भक्तामर-सौरभ

डॉ० हरिशंकर पाण्डेय, सह-आचार्य
प्राकृतभाषा एवं साहित्य जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं (राजस्थान)

पोस्ट ग्राम नारायण पुर, थाना सहार
(जोधपुर) 802201

बी० जैन पब्लिशर्स (प्रा०) लि०
नई दिल्ली - 110 055
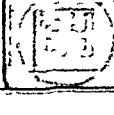
भारत में प्रकाशित

मूल्य : **151/-**

प्रथम संस्करण : 1997 - 1998

प्रकाशक: **बी० जैन पब्लिशर्स (प्रा०) लि०**
1921/10, चूना मण्डी, पहाड़गंज,
नई दिल्ली - 110 055
दूरभाष : 7770430, 7770572, 7536418

मुद्रक : **जे० जे० ऑफसेट प्रिन्टर्स**
7, प्रिटिंग प्रैस एरिया, वजीर पुर,
नई दिल्ली - 110035
दूरभाष : 7104100

ISBN 00-0000-000-0

Book Code 5241
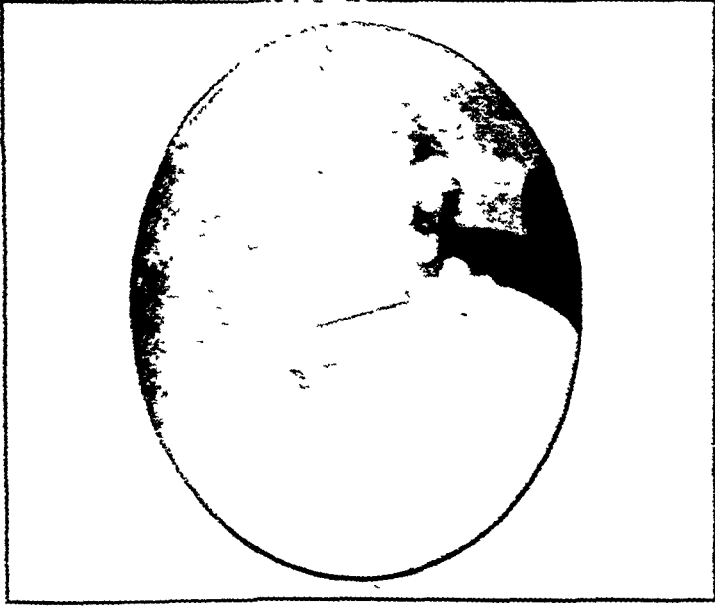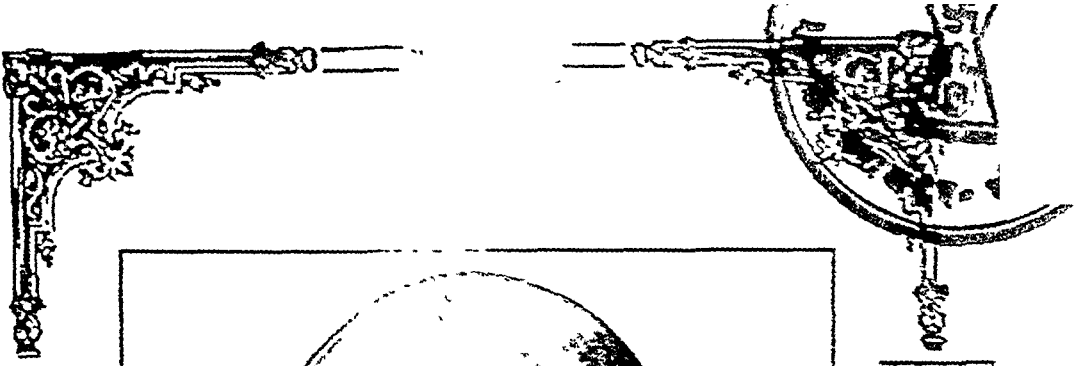
गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी

सर्व समर्थ संसार बंधनविदारक
जीवोद्धारक पूज्यगुरुदेव श्री तुलसी को सादर
समर्पित

डॉ० प्रेम नाथ जैन
डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
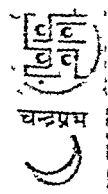
दानदाता का परिचय

नाम - श्री राकेश जैन
जन्म तिथि - 7-2-1958
जन्म स्थान - हांसी (हिसार)
वर्तमान पता - मकान नम्बर 145
सेक्टर - 14, गुडगांव, हरियाणा
दूरभाष - 323149

यह धरती धन्य है। न जाने कितने सपुत निःस्वार्थ भाव से भारत, भारतीय-संस्कृति एवं भारतीय-विधा की सेवा सतत करते रहे हैं। भाई श्री राकेश जैन जी उन लोगों में से हैं, जो भौतिकता के चकाचौंध में रहते हुए भी अध्यात्म की प्रस्रविनी में डूबकी लगा रहे हैं। इनका जीवन आत्म-विकास, आत्मरोहण एवं विश्वमंगल के लिए समर्पित है। इनकी हार्दिक भावना है कि भक्तामर स्तोत्र विषयक यह ग्रंथ घर-घर में पहुंचे तथा संसार सागर में भ्रमित जीवों को अध्यायत्म का आधार मिल सके। इसलिण इन्होंने इस ग्रंथ का सम्पूर्ण व्यय भार स्वेच्छापूर्वक ग्रहण कर सम्माननीय सदाशयता का परिचय दिया है। हम इनकी आत्मिक विकास और आध्यात्मिक समृद्धि की कामना करते हैं और जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि इनकी जीवन-यात्रा कुशल संस्कारों से भावित हों तथा इनका विधा-प्रेम निरन्तर वना रहें।

प्रकाशक
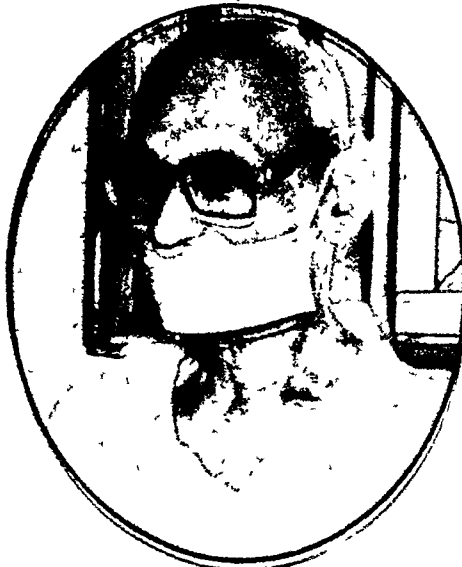
योगीराज आचार्य श्री महाप्रज्ञ

मंगलवचन

जैन स्तोत्र साहित्य का मुकुट मणि है भक्तामर। स्तुतिकार मानतुंग सूरि जितने कुशल प्रयोगकार हैं, उतने ही भक्तिरस से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने भगवान आदिनाथ के सम्मुख अपने बौद्धिक बौनेपन को वैसे ही स्वीकार किया है, जैसे — प्रतिबिम्व को पकड़ने वाला शिशु अपनी असमर्थता को स्वीकार करता है। इस स्वीकृति के उपरान्त प्रस्तुत स्तोत्र में उनकी बौद्धिकता झलक रही है। भक्ति-भाव और बौद्धिकता का मणिकांचन योग दुर्लभ होता है। उस दुर्लभ तत्व की समीक्षा हरिशंकर पांडेय ने की है। समीक्षाकार ने भक्तामर को अनेक कोणों से देखा है, उसके मूल तक पहुंचने का प्रयत्न किया है। पाण्डेजी साहित्यकार हैं। काव्य और अलंकार की समीक्षा में विशेष रुचि सम्पन्न हैं। उनकी लेखनी का निस्पंद हर पाठक के लिए आनंद की सृष्टि करेगा।

— आचार्य महाप्रज्ञ

दिनांक 5-1-1997
सुजानगढ़ (राजस्थान)

विषयानुक्रमणी

मंगलवचन (vi)

आमुख (vii)

प्राककथन (ix)

1. सचित्र भक्तामर स्तोत्र 17-49

2 भक्तामर स्तोत्र - मूल, अन्वय अनुवाद एवं व्याख्या सहित 51-148

3 स्तोत्र, स्तोत्र साहित्य एवं मानतुङ्ग-स्तोत्र, व्युत्पति एवं अर्थ, भक्तामर स्तोत्र एवं स्तुत्यर्थक शब्द, स्तोत्र और प्रार्थना, स्तोत्र और उपासनास्तोत्र और पडावश्यक, स्तोत्र का आलम्बन, स्तोत्र के तत्त्व, स्तोत्र से लाभ, स्तोत्र साहित्य, आचार्य मानतुङ्ग 151-178

4 भक्ति और भक्तामर स्तोत्र-सामान्य, भक्ति का अर्थ एवं स्वरूप भक्तामर स्तोत्र में भक्ति का स्वरूप, भक्तामर के टीकाकारों की दृष्टि में भक्ति, भक्ति और सेवा, भक्ति और अनुराग, भक्ति और विनय, भक्ति और रति, भक्ति और श्रद्धा, भक्ति और संयम, भक्ति और गुणकीर्तन, भक्ति और ध्यान, भक्ति और मंगल, भक्ति और मोक्ष, भक्ति का वैशिष्ट्य 179-216

5 भक्तामर स्तोत्र में प्रयुक्त भगवन्नामों का विवेचन — नाम-स्वरूप-संधारण, नाम और स्तोत्र, नाम और भक्ति, नामोच्चारण और स्तोत्र की मनोदशा, भगवन्नामों का वर्गीकरण, नाम विवेचन 217-258
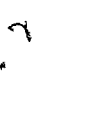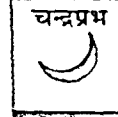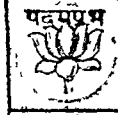
6 भक्तामर स्तोत्र में अलंकार सौन्दर्य–सामान्य, अलंकार का स्वरूप, भक्तामर स्तोत्र में अलंकार विनियोग, अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, परिकर, व्यतिरेक, उदात्त, काव्यलिंग, अर्थापत्ति, उल्लेख 259-288

6 संदर्भ ग्रंथ सूची 289-298
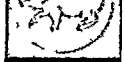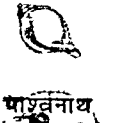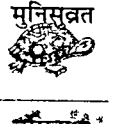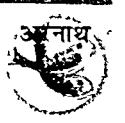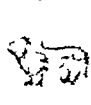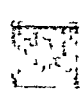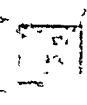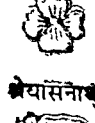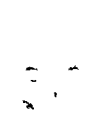
प्राक्कथन

कलियुग में जितने भी श्रेयस्मार्ग हैं, अभ्युत्थान के पथ हैं, उनमें भक्ति का मार्ग श्रेष्ठ है। वह अनिर्वचनीय है, अमृत स्वरूप है, जिसको प्राप्त कर भक्त सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। भक्ति की शक्ति से भक्त समर्थ बन जाता है। दिव्य बन जाता है। राग–द्वेष से उपरत हो जाता है।

स्तोत्र भक्ति साहित्य का प्रमुख अंग है। प्राचीन काल से संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में हजारो–हजार स्तोत्र, स्तुतियां, स्तव आदि विरचित किए गए हैं। भक्तामर–स्तोत्र आचार्य मानतुंग की अमर–कृति है। यह भक्ति का महाकाव्य है। ऐहिक एवं आमुष्मिक दोनों लाभ इससे सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि यह स्तोत्र न केवल जैन–समाज में अपितु सम्पूर्ण भक्तसंसार में प्रचलित एवं पूज्य है।

प्रस्तुत–कृति भक्तामर–सौरभ के तीन भाग हैं — प्रथम भाग में सचित्र भक्तामर स्तोत्र, द्वितीय भाग में भक्तामर स्तोत्र के 48 श्लोकों की व्याख्या की गई है। इसमें अन्वय हिन्दी अनुवाद, प्रतिपद व्याख्या, कोश, व्याकरण आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थसंधारण में संस्कृत टीकाकारों का आश्रय लिया गया है। जिनमें कनककुशलगणि (कवृ/कवि), मेघविजयसूरि (मेवृ/मेवि) एवं गुणाकर सूरि (गुवृ/गुवि) की संस्कृत वृत्तियां (टीकाएं) प्रमुख हैं। तृतीय खण्ड में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय - स्तोत्र, स्तोत्र साहित्य एवं मानतुंग में स्तोत्र के स्वरूप, स्तोत्र के तत्त्व, स्तोत्र से लाभ, स्तोत्र साहित्य के साथ आचार्य मानतुंग पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय — 'भक्ति और भक्तामर स्तोत्र' में भक्ति

के विभिन्न पक्षों –स्वरूप, भकित और सेवा अनुरागादि तथा भकित के वैशिष्ट्य आदि पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय – भगवन्नाम विवेचन में भक्तामर–स्तोत्र में प्रयुकत भगवन्नामों का विशद–विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में भकतामर–स्तोत्र में प्रयुकत अलंकारों का विचेचन किया गया है। अन्त में अध्ययण में प्रयुकत ग्रन्थों की सूची दी गई है।

इस शोध–ग्रन्थ में हमेशा तुलनात्मक समीक्षात्मक और विवेचनात्मक पद्धतियों का आश्रयण किया गया है। वैदिक साहित्य–वेद, उपनिषद, पुराण रामायण, महाभारत, कालिदास आदि के साहित्य में प्रयुक्त स्तोत्रों से तुलना क्रम में प्रभूत सामग्री ली गई है। वैदिक (सनातन) परम्परा के स्वतन्त्र–स्तोत्रों का भी उपयोग किया गया है।

इस कार्य में अलौकिक रूप में सहायक, स्थित ज्ञान एवं सौन्दर्य से विभूषित वह विश्ववारा शकित, जो हररूप में हरक्षण मिलती है, शकित संचारित करती है, स्वर्ग में, धरती पर, सर्वत्र उसी के रूप लक्षित होते हैं, उस चिन्मयी माता को हम प्रणाम करते हैं।

पूज्य गुरुदेव गणाधिपति श्री तुलसी स्नेह, करुणा, दया के त्रिवेणी संगम हैं। इनके चरण–नख से संभूत–ज्योति ही इस ग्रन्थ में शब्दाकृति को प्राप्त हुई है। आचार्य–महाप्रज्ञ की महाप्रज्ञा–सम्भूत आशीर्वाद–शकित से 'भक्तामर–सौरभ' की सौगन्धि हाथ लगी। यह उन्हीं के आशीर्वाद का फल है। जुलाई 1996 में उनसे ही आशीष प्राप्त कर इस ग्रन्थ का लेखन शुरू किया था। साध्वी–प्रमुखा कनक प्रभा का आशीष काम आया। महाश्रमणमुदित कुमार जी, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय के सम्मानित प्राध्यापक मुनि महेन्द्रकुमारजी की मंगलकामना इस भक्तामर–सौरभ की यात्रा में सहायक बनी है। समणी–नियोजिक मंगलप्रज्ञा जी की वरदानी शब्द–शकित मुझे मिली है। उसी का प्रतिफलित यह रूप है।
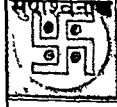
जैन विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० भोपालचन्द्र लोढ़ा, जो एक विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं मनीषि विद्वान् हैं, के अनुग्रह एवं मार्गदर्शन से शोध-कार्य का मार्ग प्रशस्त हुआ है। हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं। ग्रन्थ का आमुख लिखकर उन्होंने मेरे उत्साह को द्विगुणित किया है।

पूज्यगुरु प्रो० राय अश्विनी कुमार अध्यक्ष जैन विद्या विभाग शब्द एवं अर्थ गुरु की भूमिका में नियोजित हैं। हमने जो कुछ भी सीखा, पाया इस ग्रन्थ में आया सब उन्हीं का है। आदरेण्य गुरु डॉ० लक्ष्मी नारायण चौबे की शकित ही शब्दों के रूप को धारण कर मेरे पास आती है। वस्तुतः यह सब उन्हीं का है। पूज्य पिता डॉ० शिवदत्तपाण्डेय, भैया श्रीहरिहर पाण्डेय (वायुसेना) आदि का प्रभूत सहयोग रहा है। अनुज रामाशंकर, सच्चितानन्द आदि ने बहुत सहयोग दिया है। स्वर्गीय दो महापुरुष-चाचा और माई स्वर्ग जाकर भी मुझे शकित देने आ जाते हैं। उनको प्राणाम। सबको प्रणाम।

इस ग्रन्थ की सुन्दर छपाई, व्यय, बाइंडिंग आदि का सारा श्रेय श्री प्रेमनाथ जी जैन बी० जैन पब्लिशर्स का है। उन्होने पितृवत् होकर मेरा मार्ग प्रशस्त किया। उनकी सुझबुझ एवं कलादृष्टि ही इसकी उत्कृष्टता में सहायक है। हम उनके विकास के लिए भक्तामर प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

इस ग्रन्थ में जो कुछ गुणवत्ता है, सब गुरुओं का, विद्वानों का है। दोष मेरे हैं। यत्किंचित् भी भक्त संसार अथवा विद्वत्संसार को इस कार्य से संतोष मिलेगा तो मेरे जीवन की सार्थकता होगी। भक्तामर प्रभु और भक्तामर-भक्तों को प्रणाम। अखिल जीव जाति को प्रणाम।

विनयावनत

जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं - 341306

हरिशंकर पाण्डेय

आमुख

भक्त व भगवान् के संबंधों एवं भक्ति की महिमा का वर्णन सभी धर्मो में पाया जाता है। अनेक विद्वानों ने प्रभु-भक्ति को साहस और धैर्य प्रदान करने व मुक्ति प्राप्त करने का भी महत्वपूर्ण उपादान माना है।

प्रभुनाम-कीर्तन, स्तोत्र, स्तव आदि भक्ति के महत्वपूर्ण स्वरूप हैं। कलियुग में इनकी महिमा में और अधिक वृद्धि हुई है। यही कारण है कि लगभग सभी परम्पराओं में, भिन्न-भिन्न भाषाओं में सहस्त्रों स्तोत्रों की रचना की गई। जैन परम्परा में आचार्य मानतुंग रचित **"भक्तामर स्तोत्र"** एक ऐसा ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसके द्वारा अनेकानेक लोग भौतिक एंव आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

वैसे तो **भक्तामर-स्तोत्र** पर अब तक अनेकों ग्रंथ प्रकाशित किये जा चुके हैं पर डॉ० हरिशंकर पाण्डेय द्वारा रचित **"भक्तामर-सौरभ"** अपने ढंग का विशिष्ट ग्रंथ है जिसमें शोध-परक तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया है। ऐसा करते हुए लेखक ने वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, भागवत पुराण, गीता एवं अन्य स्तोत्र साहित्य में उपलब्ध सामग्री का पर्याप्त उपयोग किया गया है।

डॉ० पाण्डेय की प्रस्तुत रचना तीन खण्डों में विभाजित है: प्रथम खण्ड में सचित्र भक्तामर स्तोत्र, द्वितीय खण्ड में श्लोकों का अनुवाद तथा टीकाएं प्रस्तुत की गई हैं और साथ-साथ तुलना भी, जबकि तीसरे खण्ड में स्तोत्र के स्वरूप भगवन्नामों का वर्गीकरण तथा भक्ति की महिमा पर विस्तृत

प्रकाश डाला गया है। पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने अपनी व्याख्या में शास्त्र, लोक-व्यवहार तथा मनोविश्लेषण का भी आश्रय लिया है और स्तोत्रगत अलंकारों का भी सुन्दर विवेचन किया है। इससे ग्रंथ की उपयोगिता में और भी वृद्धि हुई है।

"भक्तामर-स्तोत्र" यद्यपि जैन परम्परा का प्रमुख ग्रंथ है पर प्रस्तुत रचना में प्रयुक्त तुलनात्मक विश्लेषण पद्धति ने ग्रंथ को सर्वमान्य बना दिया है। फलस्वरूप यह जैनेत्तर परम्परा को मानने वालो के लिए भी उतना ही उपयोगी बन गया है जितना जैन परम्परा के लोगों के लिए।

आशा है प्रस्तुत ग्रंथ जैन-परम्परा में नहीं अपितु सम्पूर्ण भक्त-संसार के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, पाठको को विभिन्न परम्पराओं के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रदान करेगा एवं इसमें निहित स्तोत्र एवं उनके शब्द सर्वग्राही सिद्ध होंगे।

विषय सामग्री का प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली है; इसकी भाषा साहित्यिक तो है ही, हृदयग्राही भी है। आशा है, भक्ति साहित्य में रुचि रखने वाले जैन परम्परा एवं अन्य परम्परा के अनुयायियों के लिए यह समान रूप से उपयोगी होगा।

भोपाल चन्द्र लोढ़ा
कुलपति

जैन विश्वभारती संस्थान
मान्य विश्वविद्यालय
लाडनूं - 341 306 (राजस्थान)
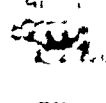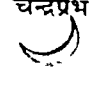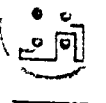
ॐ

भक्तामर - सौरभ

प्रथम खण्ड - भक्तामर स्तोत्र

(सचित्र)

तेरापथ के आद्य प्रवर्त्तक महामहिम आचार्य श्री भिक्षु

नमोकार महिमा

नमोकार मंत्र का एक-एक शब्द अचिंत्य शक्ति का अक्षय भंडार है। इसकी महिमा में आचार्यों ने कहा है–

हरइ दुहं कुणइ सुहं
जणइ जसं सोसए भव समुद्दं।
इह लोए पर-लोए य
सुहाणमूलं नमुक्कारो॥

नमोकार महामंत्र दुःखों का नाश करके सुखों को देने वाला है। यह यश की वृद्धि करता है, भव-समुद्र को सुखाता है। इस लोक (भौतिक) एवं परलोक (आत्मिक) में सभी प्रकार के सुखों का मूल है।
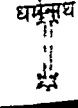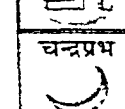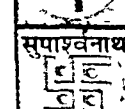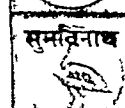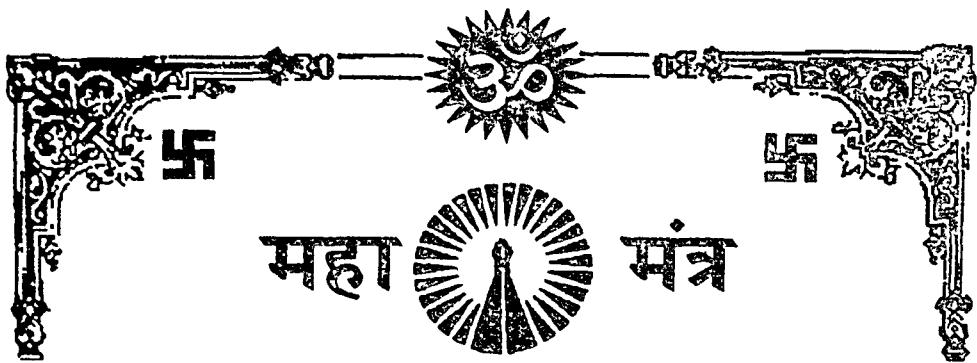
महा मंत्र
णमो अरहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं
ऐसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावपणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।
णमो अरहंताणं अरहतों को नमस्कार। धर्म को चलाने वाले अरहंत कहलाते है। वे संसार की सब वस्तुओं को जानते है, देखते है। उनका चरित्र ऊँचा होता है। वे अनंत शक्ति के स्वामी होते हैं। उनकी कुछ बाते विशिष्ट होती हैं जो अतिशय कहलाती है। वे जनता को धर्म का रास्ता दिखाते है, इसलिए पूज्य है।
णमो सिद्धाणं सिद्धों को नमस्कार। सिद्ध वे होते हैं जो जन्म--मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते है। उन्हे न बुढापा सताता है, न रोग सताता है। उन्हे किसी प्रकार का दु ख नहीं होता। उन्हें परमात्मा, परमेश्वर कहा जाता है।
सम्भवनाथ
सुपार्श्वनाथ
चन्द्रप्रभ
विमलनाथ
धर्मनाथ
मल्लीनाथ
मुनिसुव्रत

णमो आयरियाणं आचार्यो को नमस्कार। आचार्य वे होते है जो स्वय उच्च आचार का पालन करते है और दूसरो को वैसा करने की प्रेरणा देते है। उन्हे अनेक शास्त्रो का ज्ञान होता है। वे धर्म के उपदेशक होते है। धर्म के रथ को खीचने वाले होते है। धर्म–संघ पर अनुशासन करने वाले होते है और अरहतो की अनुपस्थिति मे उनका काम करते है।

णमो उवज्झायाणं उपाध्याय को नमस्कार। उपाध्याय वे होते है जो धर्म–शास्त्रों को स्वयं पढते है। और दूसरो को पढाते है। आचार्य की आज्ञा पाकर वे यह काम करते है।

णमो लोए सव्वसाहूणं लोक के सब संतो को नमस्कार। जो अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन पाच महाव्रतो का पालन करते हैं, गृहत्यागी होते है, क्रोध–मान–माया और लोभ से दूर होते है, साधु–चर्या के प्रति जागरु रहते है, अपने गुरु की आज्ञा मे रहते है, उनके आदेश–निर्देश और मर्यादा का पालन करते है, वे साधु कहलाते है।

एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावपणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

नमस्कार महामत्र नमस्कार–पचक कहलाता है। इसमे अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार किया गया हे। इसका जप करने से सव प्रकार के पापो का नाश होता है। ससार मे जितने मगल है, उनमे यह सवसे वडा मगल है। इस मगल का स्मरण सवके लिए सुखदायी है।
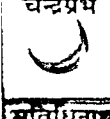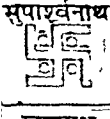
भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा
मुद्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा -
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।१।।

नमस्कार करते हुए अमर भक्तों के मुकुटमणियों की प्रभा को उद्योतित करने वाले, पाप रूपी तम-वितान को नष्ट करने वाले एवं भव-समुद्र में गिरते हुए प्राणियों को आलम्बन देने वाले, जिनेश्वर देव के पाद-युग्म को युग की आदि में सम्यग् नमस्कार करता हूँ।

य: संस्तुत: सकल-वाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभि: सुरलोकनाथै:।
स्तोत्रैर जगत्त्रियचित्त-हरै रुदारै:
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्।।२।।

जो समस्त वाङ्मय तत्त्व के बोध से विशिष्ट बुद्धि वाले, सुरेन्द्रों के द्वारा, तीन लोक के, चित्त को हरने वाले, ठदार स्तोत्रों से संस्तुत हैं। मैं उस प्रथम जिनेश्वरदेव की स्तवना करूँगा।

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ!
स्तोतुं समुद्यत-मतिर् विगत-त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।३।।

अयि! विबुधों के द्वारा अर्चित पादपीठ! मैं लज्जाविहीन, योग्यता बिना ही तुम्हारी स्तवना करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। क्योंकि पानी में तैरते हुए चन्द्र बिम्ब को बालक के अतिरिक्त और कौन पकड़ने की इच्छा कर सकता है?
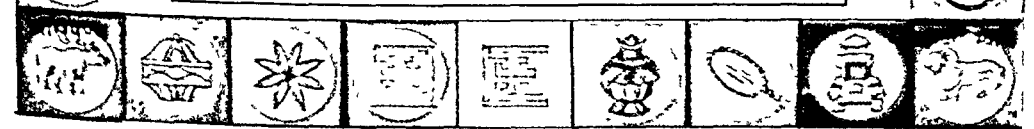
वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र! शशांककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगरु-प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत नक्रचक्र,
को वा तरीतुमलम्बुनिधि भुजाभ्याम्।।४।।

हे गुण समुद्र! तेरे शशधर जैसे कान्त गुणों को क्या कोई बृहस्पति जैसा व्यक्ति भी बुद्धि के द्वारा कहने में समर्थ है? अथवा प्रलयकाल की पवन से उद्धत महामत्स्यों के समूह वाले समुद्र को क्या कोई अपनी भुजाओं से तैरने में समर्थ है?
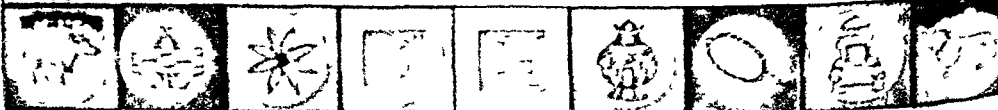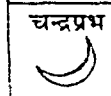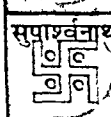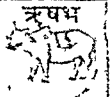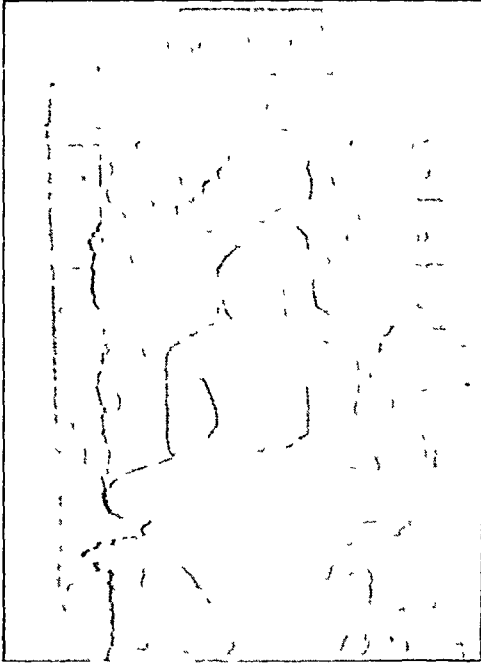
सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश।
कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृतः।
प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।।५।।

मुनीश! भक्तिवश मैं-शक्तिविहीन होता हुआ भी (तुम्हारी) स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ हूँ। अहो! क्या मृग प्रीतिवश अपने बलबूते को देखे बिना ही अपने बच्चे की रक्षा के लिए सिंह का सामना नहीं करता?

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद् भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारु चाम्र-कलिकानिकरैकहेतु।।६।।

भगवन्! मुझ जैसे एक अल्पज्ञ और श्रुतज्ञजनों के सम्मुख उपहास पात्र को तुम्हारी भक्ति ही स्तुति के लिए मुखरित (प्रेरित) करती है। जैसे वसन्त ऋतु में कोयल की मधुर कुहुक को आम्र मंजरी।
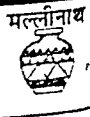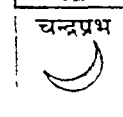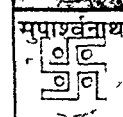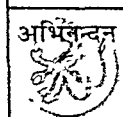
त्वत्संस्तवेन भवसंतति-सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षय-मुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त-लोक-मलिनील-मशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ।।७।।

भगवान्! तुम्हारी संस्तुति से प्राणिमात्र के जन्म-जन्म के संचित पापकर्म क्षणमात्र में विनष्ट हो जाते हैं। जैसे - भौंरे के समान काले रात्रि के सर्वत्र व्याप्त अँधेरे को सूर्य की किरणें शीघ्र ही भेद डालती हैं।
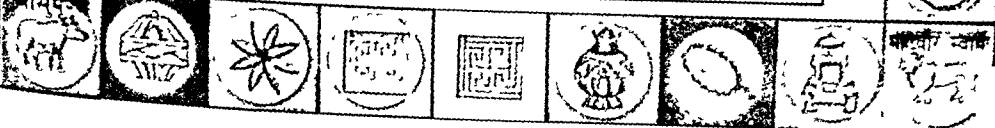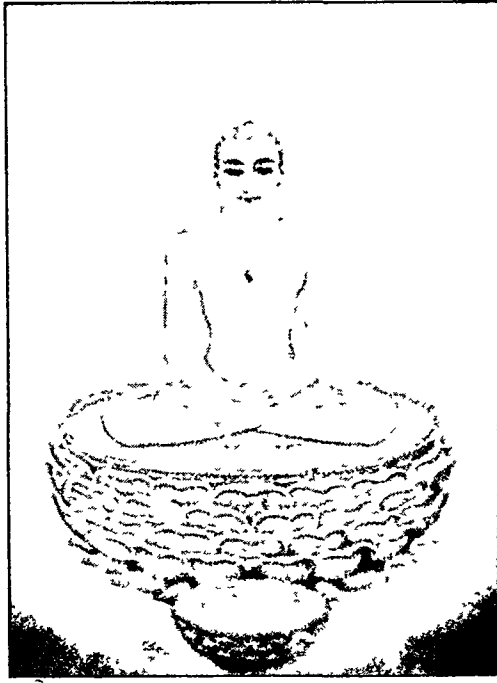
मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्पति सतां नलिनीदलेषु,
मुकताफल-द्युतिमुपैति ननूदबिन्दु।।८।।

हे नाथ! मैं यह मानकर मंदबुद्धि होते हुए भी तुम्हारे प्रभाव से यह तुम्हारी संस्तवना करता हूँ। वह सज्जन पुरुषों के चित्त को लुभाने वाली है। जैसे कि कमल के पत्ते के प्रभाव से उस पर ठहरी हुई जल की बूँद मुकता का आकार धारण कर, लोगों को लुभाती है।
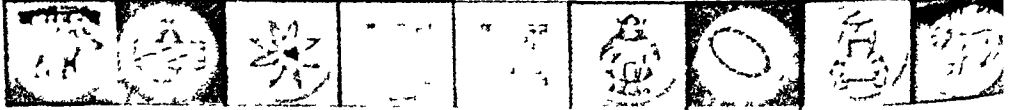
नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैः गुणैः भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति?।।१०।।

हे भुवनभूषण! हे प्राणिमात्र के नाथ! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, जो कि जगती तल में प्रचुर गुणों के द्वारा आपकी स्तवना करते हुए भक्तजन आपके तुल्य बनें। क्या कोई समृद्धिशाली व्यक्ति अपने सेवक को अपने तुल्य नहीं बनाता?
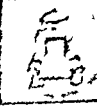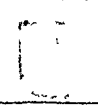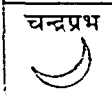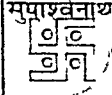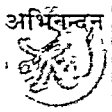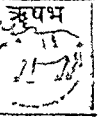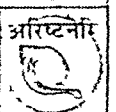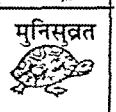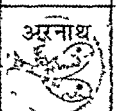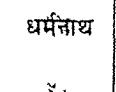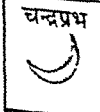
ॐ
दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष–विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति–दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत्।।
आप जैसे अनिमेष विलोकनीय पुरुषों को देखकर लागों के नेत्र अन्यत्र संतुष्ट नहीं होते। क्योंकि चन्द्रमा की किरणों जैसे द्युति वाले क्षीर समुद्र का पानी पी लेने पर (लवण) समुद्र का खारा पानी कौन पीना चाहेगा?
ऋषभ
अजित
सम्भवनाथ
अभिनन्दन
सुमतिनाथ
सुपार्श्वनाथ
चन्द्रप्रभ
विमलनाथ
अनन्तनाथ
धर्मनाथ
शान्तिनाथ
कुन्थुनाथ
अरनाथ
मल्लीनाथ
मुनिसुव्रत
नमिनाथ
अरिष्टनेमि
पार्श्वनाथ
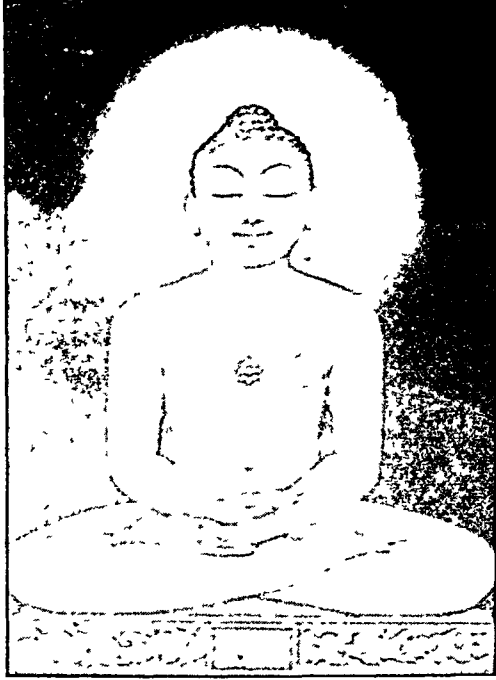
यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत!
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति॥

हे त्रिभुवन-ललाम! जिन शान्त-राग वाले और कान्तिमान परमाणुओं से तुम्हें रचा गया है, वे परमाणु इस धरातल पर उतने ही थे। यही कारण है कि इस पृथ्वी पर तुम्हारे जैसा दूसरा कोई रूप नहीं है।
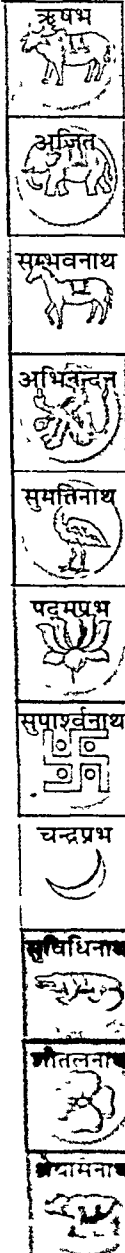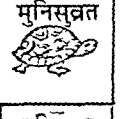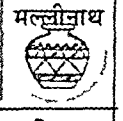
वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेष निर्जित जगत्-त्रितयोपमानम्
बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्।।

कहाँ देवता, मनुष्य और नाग देवताओं के नेत्रों को हरण करने वाला तुम्हारा मुखारविन्द जिसने कि तीनों लोकों की उपमाओं पर विजय प्राप्त की है और कहाँ चन्द्रमा का कलंक से मलिन बिम्ब, जो कि दिन में पके हुए ढाक के पत्ते के तुल्य नजर आता है।
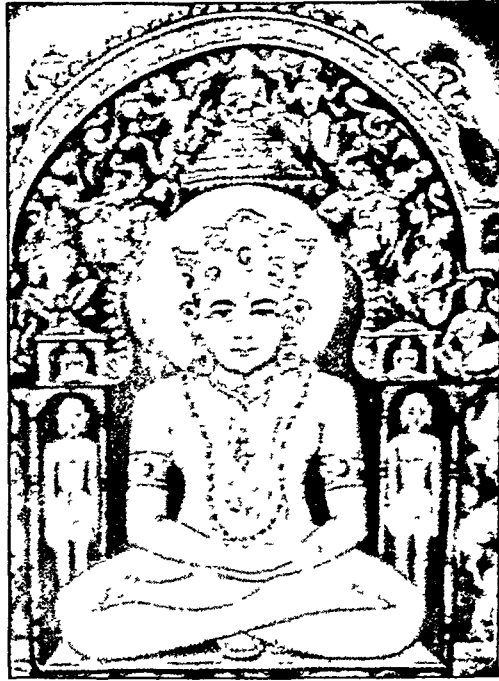
सम्पूर्ण मण्डल-शशांककलाकलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास् त्रिजगदीश्वर ! नाथमेकं,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।

सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल की कला समूह के तुल्य क्रान्तिमान आपके उज्जवल गुण, तीनों लोकों का उल्लंघन करते हैं। हे त्रिजगदीश्वर! जिन्होंने आप जैसे एक ही स्वामी का आश्रय ले लिया है उन्हें यथेच्छ भ्रमण करने से कौन रोक सकता है?
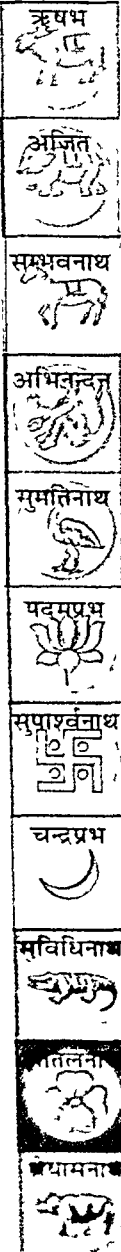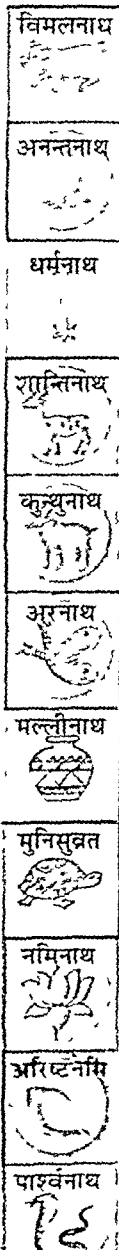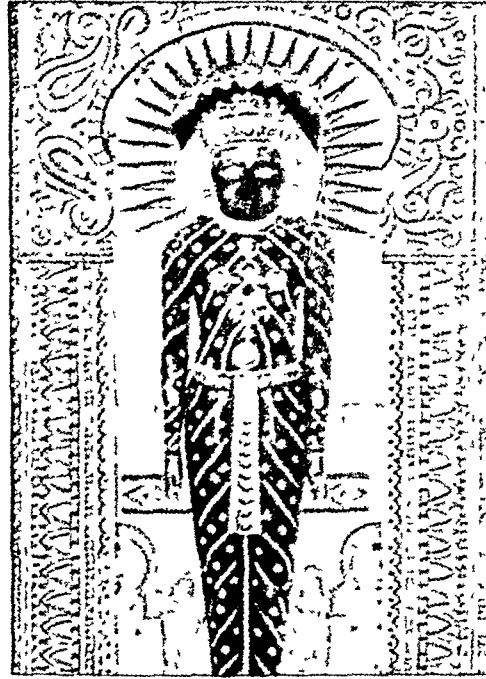
ऋषभ
अजित
सम्भवनाथ
सुमतिनाथ
सुपार्श्वनाथ
चन्द्रप्रभ
विमलनाथ
अनन्तनाथ
धर्मनाथ
शान्तिनाथ
कुन्थुनाथ
अरनाथ
मल्लीनाथ
मुनिसुव्रत
नमिनाथ
पार्श्वनाथ
चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांड्गनाभिर्,
नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।।
भगवान् यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, जो देवांगनाएँ तुम्हारे मन को किंचित् भी विचलित नहीं कर सकीं। क्या कभी प्रलयकाल की पवन से मन्दराद्रि शिखर चलायमान हुआ है?
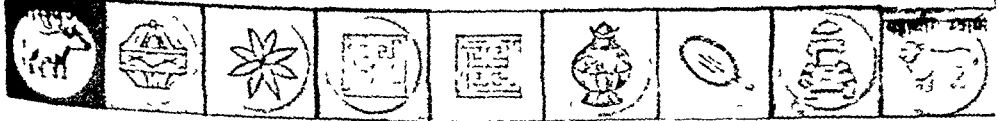
निर्धूमवर्तिरपवर्जित–तैलपूर!
कृतस्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः।।

हे नाथ! तुम निर्धूमवर्तिका और तैल–प्रवाह से रहित दीपक होकर भी तीनों लोकों को प्रकाशित करते हो और पर्वतों को हिला देने वाली पवन से भी तुम प्रभावित नहीं होते अतः भगवन्! समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाले तुम एक ही विलक्षण दीप हो।
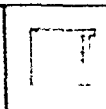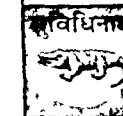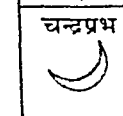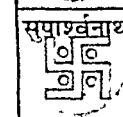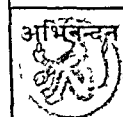
नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर–निरुद्धमहाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र! लोके।।

प्रभो! तुम ऐसे दीपक (प्रकाशक) हो जो न कभी अस्त होते हो और न राहु से प्रभावित होते हो और हठात् सारे विश्व को एक ही काल में प्रकाशित कर देते हो। तुम्हारा यह महाप्रभाव बादलों से भी आच्छादित नहीं होता। अतः हे मुनीन्द्र! तुम सूर्य से भी प्रभावशाली महिमा के धनी हो।

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्व-शशांक-बिम्बम्।।

प्रभो! नित्य उदय होने वाला, मोह के महान्धकार को दलने वाला, राहु के मुख से और बादलों से अगम्य (अप्रभावित) तुम्हारा अनन्त क्रान्ति वाला मुखरविन्द जगत् को प्रकाशित करता हुए अपूर्व देदीप्यमान शशांक विम्व है।
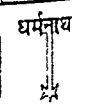
किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा?
युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ!
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर् जलभार-नम्रैः।।

हे प्रभो! तुम्हारे मुखचन्द से अन्धकार विलीन हो जाने पर रात्रि में चन्द्रमा का और दिन में सूर्य का क्या प्रयोजन है? यदि वह जीवलोक पके हुए शालिवन युक्त है तो फिर जल के भार से नमते हुए मेघों का क्या कार्य है?
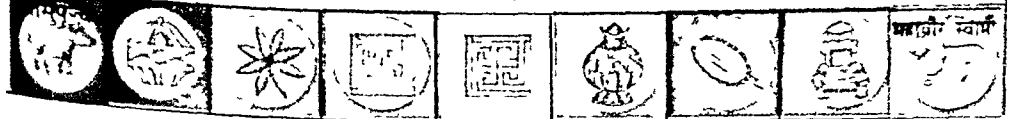
ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु !
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि।।

प्रभो! ज्ञान जिस प्रकार तुम्हारे अन्दर सुशोभित होता है, हरिहरादि नायकों में वैसा नहीं। क्योंकि मणियों से चमकता हुआ तेज जिस प्रकार उच्चास्पद को प्राप्त होता है वैसा किरणों से युक्त होते हुए भी कांच के टुकडों में नहीं।
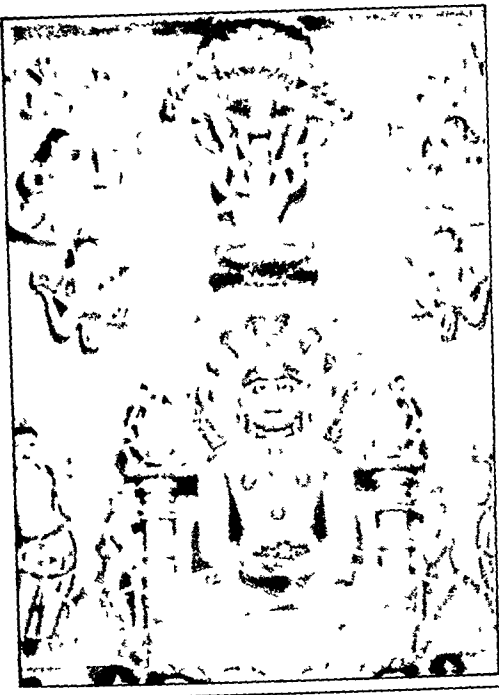
मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि।

प्रभो! हरिहरादि (ब्रह्मा, विष्णु आदि) देवों को मैंने देखा। इसे मैं ठीक समझता हूँ क्योंकि उन्हें देख लेने पर ही मुझे अब तुम्हारे में संतोष प्राप्त हुआ है। तुम्हें देखने से अब दूसरा कोई भी देव दुनिया में मुझे जन्म-जन्मान्तरों में भी आकर्षित नहीं कर सकता।
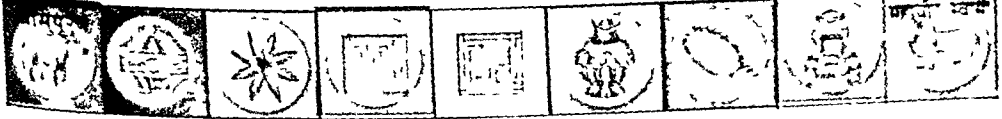
स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्।।

देव! सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु तुम्हारे जैसा पुत्र अन्य किसी माता ने पैदा नहीं किया। यह ठीक है - ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि सभी दिशाओं में होते हैं, फिर भी सहस्त्र किरणों वाले सूर्य को तो पूर्व दिशा ही जन्म देती है।
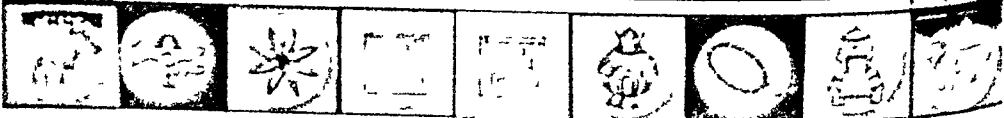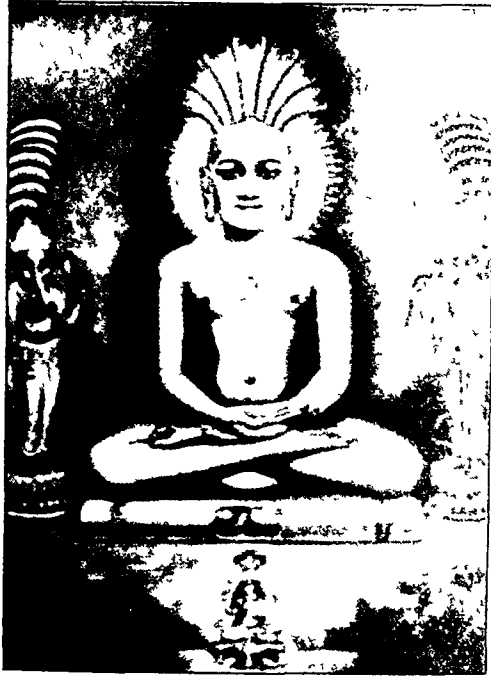
त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः।।

विभो! अन्धेरे से परे, मुनि लोग तुम्हें ही परम पुरुष, आदित्य के तुल्य तेज वाले, मलरहित मानते हैं और तुम्हें ही अच्छी प्रकार से प्राप्त कर, वे मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं। क्योंकि हे मुनीन्द्र! मुक्ति स्थान के लिए और दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है।
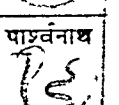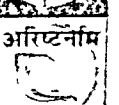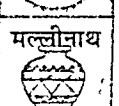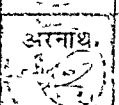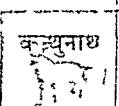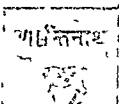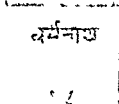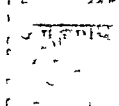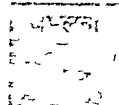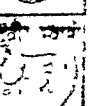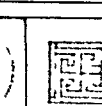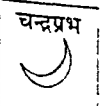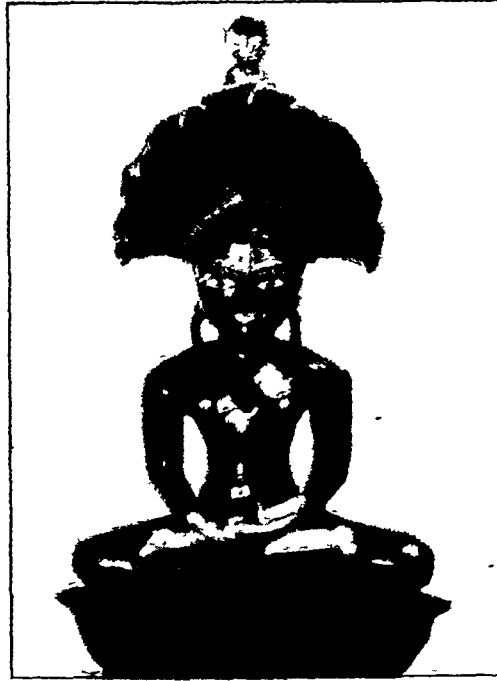
त्वामव्ययं विभूमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः।।

हे नाथ! सन्त लोग तुम्हें अव्यय, व्यापक ज्ञान वाले, मन और वाणी से अगोचर, संख्यातीत, आद्य, ब्रह्म स्वरूप, ईश्वर, अनन्त, काम को जीतने वाले, योगीजनों के ईश्वर, योग के जानने वाले, अमल तथा एक और अनेक कहते हैं।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित ! बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर् विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि।।

प्रभो! तुम्हारे कैवल्य बोध की विबुधजनों ने प्रशंसा की है, पूजा की है, अतः तुम बुद्ध हो। तुम तीनों लोगों का कल्याण करते हो अतः शंकर हो। धीर! तुम मुक्तिमार्ग के विधि-विधान के कर्ता हो अतः धाता हो। भगवान्! इस प्रकार स्पष्ट है कि तुम ही एक पुरुषोत्तम हो।
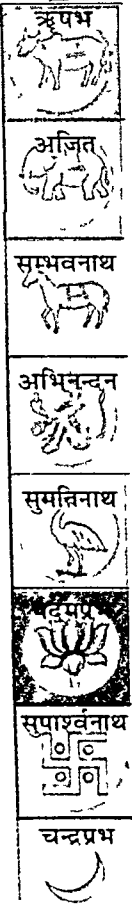
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय।
तुम्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय।।

हे तीनों लोक के दुःख हरने वाले नाथ! तुम्हें नमस्कार है। क्षितितल के पवित्र भूषण! तुम्हें नमस्कार है। तीन जगत् के परमेश्वर! तुम्हें नमस्कार है। जन्म मरण रूप समुद्र का शोषण करने वाले हे जिन! तुम्हें नमस्कार है।
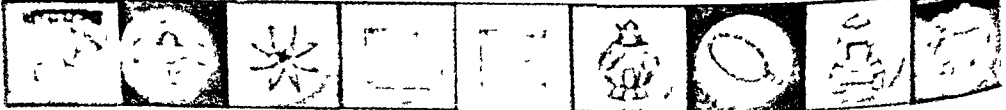
को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त-विविधाश्रय-जातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।।

हे मुनीश! इसमें क्या आश्चर्य है, जो कि तुम बिना किसी अवकाश के अशेष गुणों के आश्रयभूत हो। क्योंकि क्रोध, मान आदि से उत्पन्न विविधाश्रयों में रहने वाले दोषों ने तुम्हें कभी स्वप्न में भी नहीं देखा।
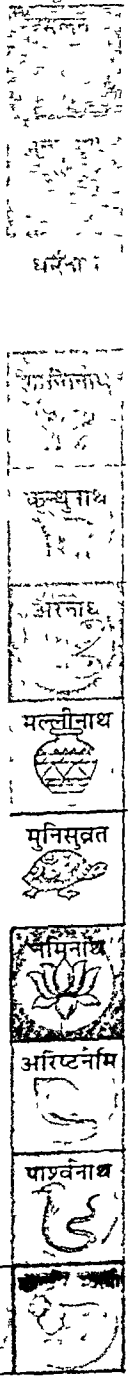
उच्चैरोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति।।

प्रभो! ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रित ऊपर की ओर जाने वाली किरणों से युक्त तुम्हारा निर्मल रूप देदीप्यमान है। लगता है जैसे–स्पष्ट उल्लसित किरण वाला, अन्धकार–समूह को विनष्ट करने वाला, काले मेघ के पार्श्ववर्ति रवि का विम्व हो।
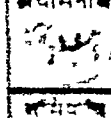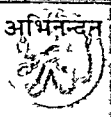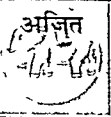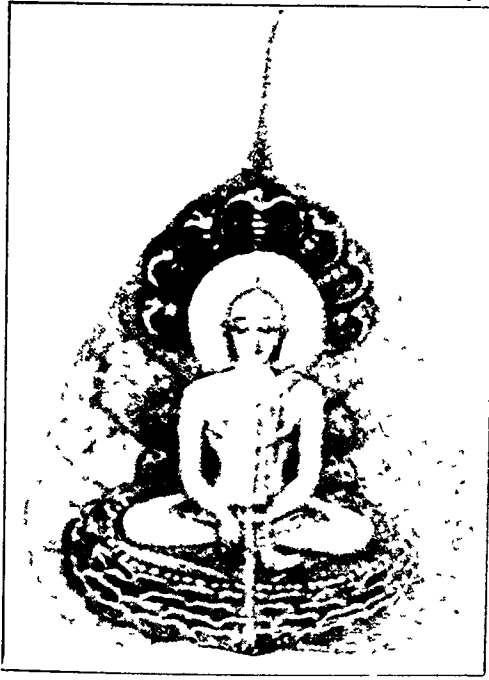
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलता-वितानं,
तुंगोदयाद्रि-शिरसीव सहस्त्ररश्मेः।।

मणि किरणों की शिखाओं से विचित्र सिंहासन पर तुम्हारा कंचन के तुल्य शरीर ऐसे शोभित हो रहा है, मानो ऊँचे उदयाचल के शिखर पर आकाश में चमकती हुई किरण-लताओं वाला सूर्य का बिम्ब।
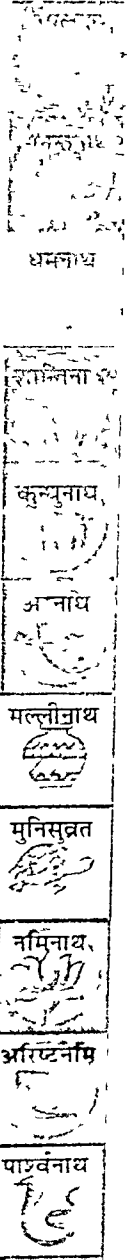
कुन्दावदात-चलचामर-चारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशांक-शुचि-निर्झर-वारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्।।

चमेली कुसुमों के तुल्य शुभ्र डोलते हुए सुन्दर चमरों के बीच तुम्हारा शरीर तपे हुए सुवर्ण की तरह देदीप्यमान है, मानों उदय होते हुए चन्द्रमा के सदृश पवित्र जल-प्रताप की धारा वाले मेरु पर्वत का उच्च स्वर्णमय शिखर हो।
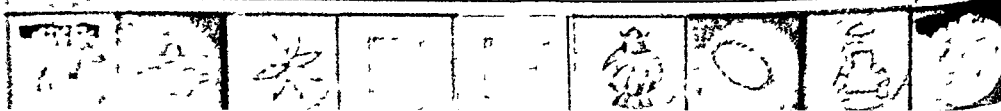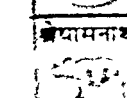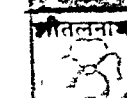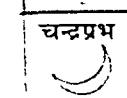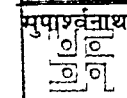
छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर-प्रतापम्।
मुक्ताफल-प्रकरजाल-विवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।

विभो! तुम्हारे यह ऊँचे स्थान पर स्थित तीन छत्र जो कि सूर्य किरणों को भी मात देते हैं, चन्द्रकान्ति के तुल्य सुशोभित हैं। मोतियों के जाल से विशेष शोभा बढ़ाते हुए यह तीन लोक में तुम्हारा आधिपत्य ख्यापित कर रहे हैं।
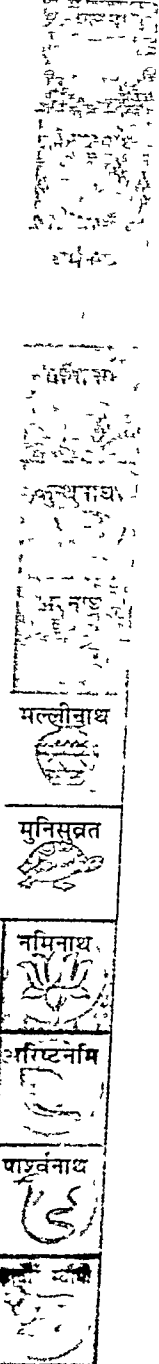
गम्भीरतारवप्रपूरित-दिग्विभागस्
त्रैलोक्यलोक-शुभसंगम-भूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजयघोषण-घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी।।

प्रभों! आपके यश की सूचना देने वाला आकाश में जो नगाडा (दुंदुभी) वज रहा है, उसके गंभीर तथा ऊँचे स्वर से सारा दिग् गुंजित हो रहा है। उसकी ध्वनि तीनों लोकों के प्राणियों का सत् समागम कराने वाली है। उसका उद्घोष मानो सद्धर्म (जैन धर्म) और उसके प्रवर्त्तक तीर्थकरों की जय-घोपणा कर रहा है।
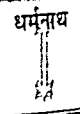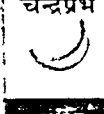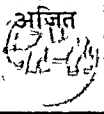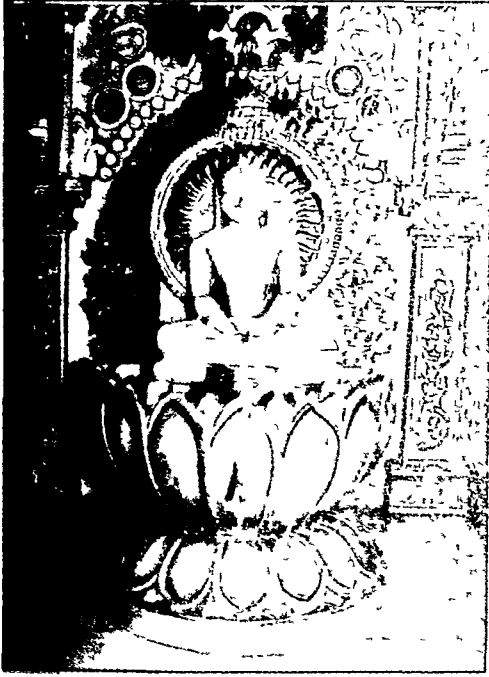
मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपारिजात-
सन्तानकादि-कुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा।
गन्धोदबिन्दु-शुभमन्द-मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा।।

प्रभो सुगन्धित जल की बूँदों के साथ शीतल और मंद शरीर समीर है, उसके झोकों से दिव्य सुमनों की वर्षा ऐसी प्रतीत हो रही है मानों तुम्हार वचनावली ही पंक्तिबद्ध होकर धरती पर फैल रही है। वे फूल ऊर्ध्वमुखी होते हैं जो समवसरण की पावन भूमि में मन्दार, नमेरु, पारिजात और सन्तानक नाम के कल्पवृक्ष से निरन्तर झरते रहते हैं।

सम्भवनाथ सुपार्श्वनाथ चन्द्रप्रभ धर्मनाथ कुन्थुनाथ मल्लीनाथ मुनिसुव्रत नमिनाथ अरिष्टनेमि पार्श्वनाथ

शुम्भत्प्रभावलय-भूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रय-द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्-दिवाकर-निरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम्।।

प्रभो! आपकी दिव्य देह से निःसृत रश्मियों से जो अत्यन्त देदीप्यमान आभामंडल बनता है, उसकी जगमगाती हुई ज्योति अनेक सूर्यों के एक साथ सघनता से उदय होने वाली कान्ति के सदृश है। तीनों लोकों में चमकीले जितने पदार्थ हैं उन सबकी आभा को वह मात देती है तथा चन्द्रमा के समान होने पर भी वह अपनी प्रभा से रात्रि को जीत लेती है।
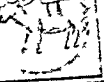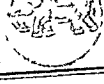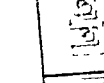
स्वर्गापवर्गगममार्ग-विमार्गणेष्टः,
सद्धर्मतत्त्वकथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व
भाषास्वभाव-परिणामगुणैः प्रयोज्यः।।

हे जितेन्द्र! आपकी कल्याणकारी वाणी (दिव्य ध्वनि) स्वर्ग एवं मोक्ष का मार्ग दिखाने वाली है। और तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को सम्य धर्म तत्त्व समझाने में निपुण है। प्रभो! तुम्हारी उस अलौकिक दिव्य वाणी का यह महान् अतिशय है कि वह प्रत्येक श्रोता की उसकी अपनी भाषा में परिणत होने के गुण से युक्त होती है।
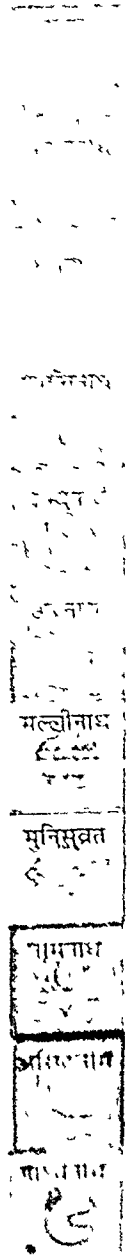
उन्निद्रहेम-नवपंकज-पुञ्जकान्ती,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।।

हे स्वामिन्! खिले हुए नये स्वर्ग-कमलों की कान्ति के सदृश, नखों की किरणों के द्वारा चारों ओर अति सुन्दर आभा बिखेरते हुए, तुम्हारे ये चरण जहाँ भी डग रखते हैं, वहीं देवतागण स्वर्ण-कमल स्थापित कर देते हैं।
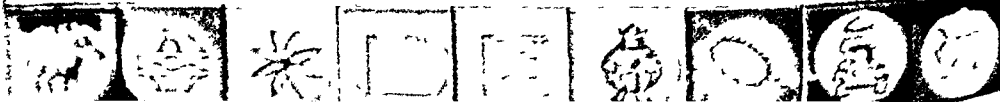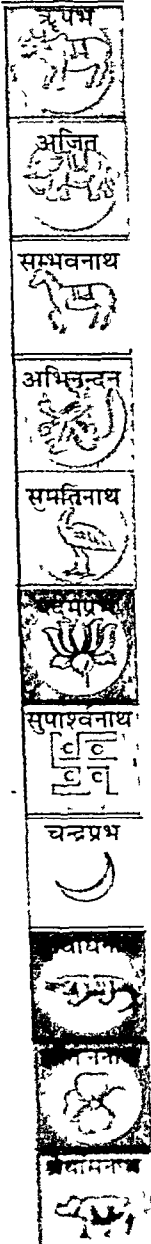
इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशविधौ न तथा परस्य !
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रह-गणस्य विकाशिनोऽपि ।।

हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार धार्मिक उपदेश विधि में तुम्हें जो ख्याति प्राप्त है, वैसी और किसी को नहीं, क्योंकि अंधकार को नष्ट करने की क्षमता जैसी सूर्य की प्रभा में होती है, वैसी प्रभा, प्रकाशयुक्त होने पर भी और ग्रहों की नहीं हो सकती।

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल
मत्तभ्रमद्-भ्रमरनाद-विवृद्धकोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्।।

चूते हुए मद के द्वारा मलिन और चंचल कपोल भाग वाला, भ्रमण करते हुए मस्त मधुकरों के नाद से अत्यन्त बढ़े हुए कोप वाला, इन्द्र के एरावत के तुल्य, उद्धत, हाथी को ऊपर आते देखकर भी तुम्हारे आश्रित जनों को किंचित् भी भय नहीं लगता।
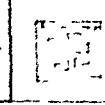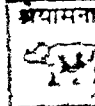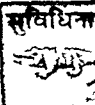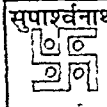
भिन्नेभ-कुम्भ-गलदुज्जवल-शोणिताक्त
मुकताफल प्रकर-भूषित-भूमिभागः।
वद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते।।

विदीर्ण किये गये हाथियों के कुंभ-स्थलों से निकलते हुए शोणित से सने, उज्ज्वल मुकताफल-से विभूषित धरातल, कृतसंकल्प एवं जिसके पैरों के नीचे लक्ष्य प्राप्त हो चुका है ऐसा हरिणाधिप (सिंह) भी तुम्हारे चरण-रूपी युग पर्वतों का आश्रय लेने वाले भकत पर आक्रमण नहीं कर सकता।
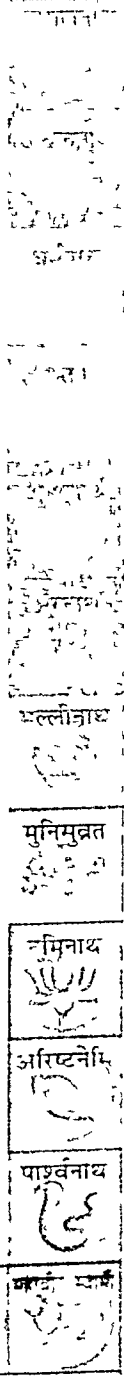
कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-वह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्।।

प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु वेग से उत्पन्न भीषण अग्निकाण्ड वाला, ज्वलित, उज्ज्वल, फुलिंगे विखेरता हुआ समस्त विश्व को निगल जाने की इच्छा रखने वाला दावानल भी यदि सामने आ पड़े तो तुम्हारे नाम रूप कीर्त्तन का जल उसे सर्वथा शान्त कर देता है।
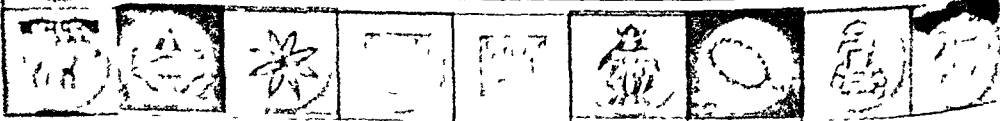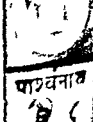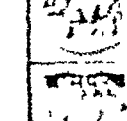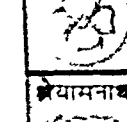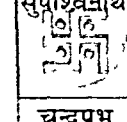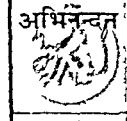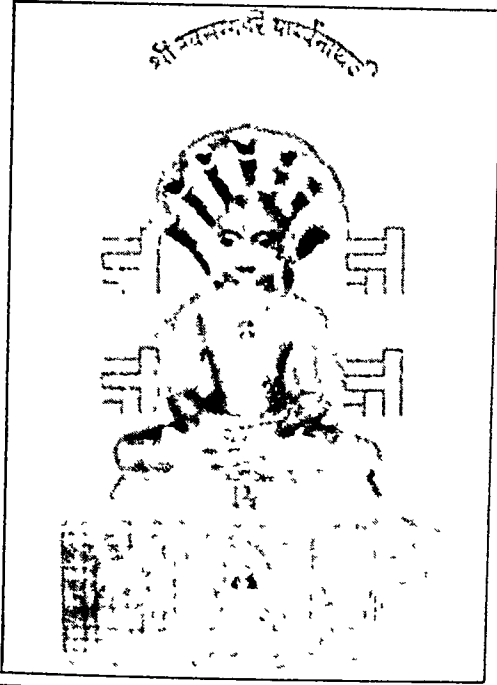
रक्तेक्षणं समदकोकिल-कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रम-युगेन निरस्तशंकस्
त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः।।

भगवन्! जिस पुरुष के हृदय में तुम्हारे नाम-रूपी नागदमनी हो, वह व्यकित लाल नेत्रों वाले, मदोन्मत्त, कोकिल के कण्ठों के तुल्य नील, क्रोध में व्याकुल, फण किये हुए सर्प को भी पैरों से निःशंक होकर कुचल सकता है।
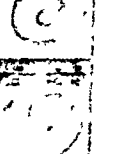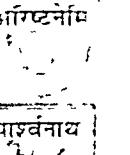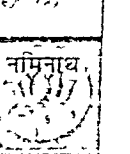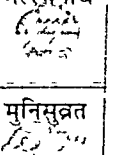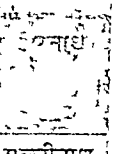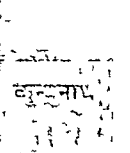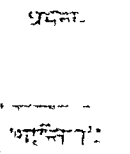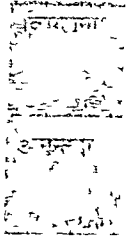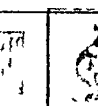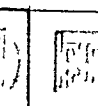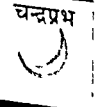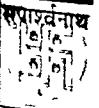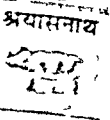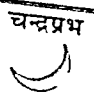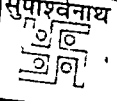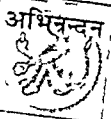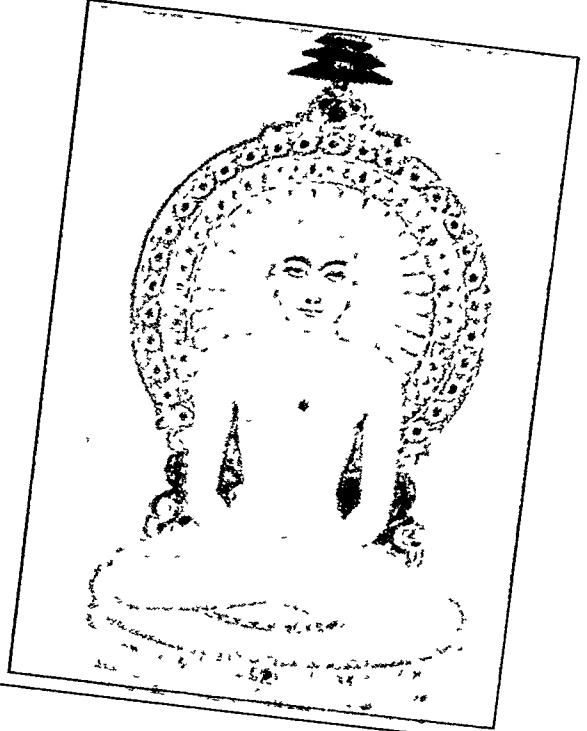
वल्गत्तुरंग गजगर्जित-भीमनाद
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूख-शिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात् तम इवाशु भिदामुपैति।।

जिस समर में बलवान् भूपतियों की सेना से हाथी और घोड़ों के भयंकर शब्द हो रहे हों, विभो! उस स्थिति में तुम्हारे नाम-कीर्त्तन मात्र से वह सेना ऐसे छिन्न-भिन्न हो जाती है, जिस प्रकार कि उदय होते हुए सूर्य कि किरणों के अग्र भाग से अँधेरा विलीन हो जाता है।
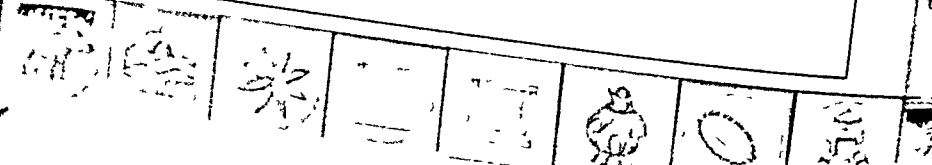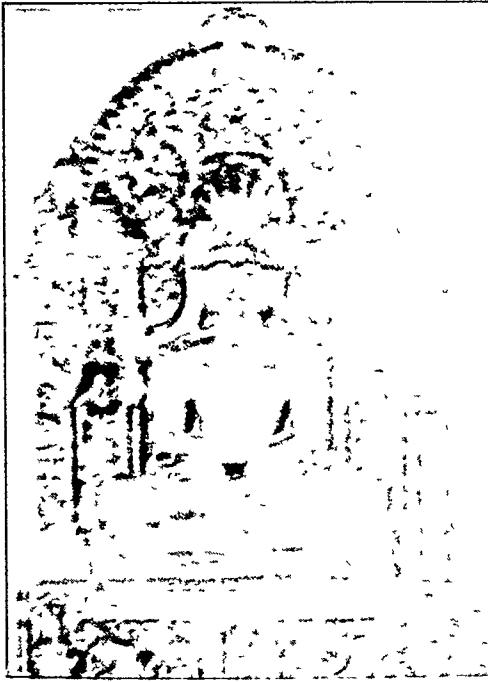
कुन्ताग्रभिन्नगज-शोणितवारिवाह,
वेगावतार-तरणातुरयोध-भीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षास्
त्वत्पाद-पंकजवनाश्रयिणो लभन्ते।।

भालों की नोंक से बिंधे हुए हाथियों के रुधिर की नदी के वेग में तरने में व्याकुल हैं योद्धा जिसमें, ऐसे समर में जो दुर्जेय जेय पक्ष से पराजित हैं वे प्राणी भी तुम्हारे पाद पंकज रूपी वन का आश्रय लेने से विजय प्राप्त करते हैं।
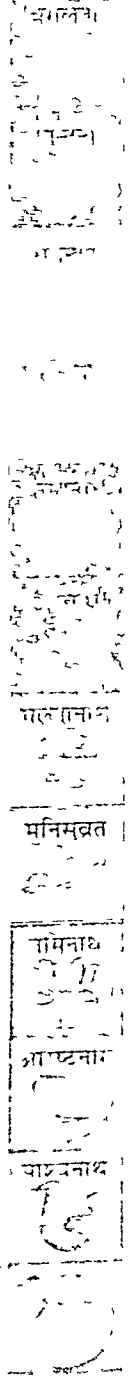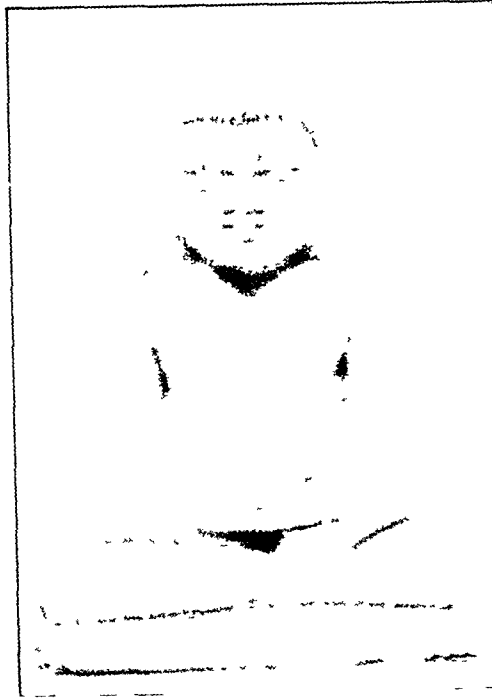
अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र,
पाठीन–पीठभयदोल्वणवाड़वाग्नौ।
रंगत्तरंग–शिखरस्थित–यानपात्रास्
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति।।

भयंकर मगर समूह, भयभीत करने वाले महाकाय मत्स्य और प्रचण्ड बड़वानल आदि से क्षुभित समुद्र में भयंकर तरंगों पर डोलने वाले जहाज भी तुम्हारे स्मरण मात्र से भयमुक्त होकर पार हो जाते हैं।
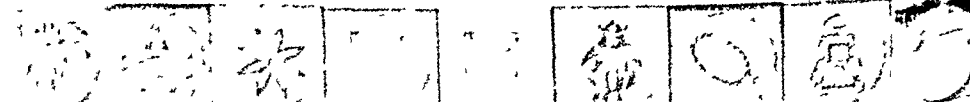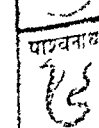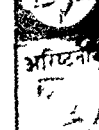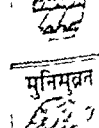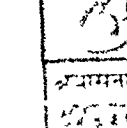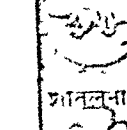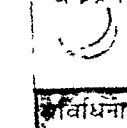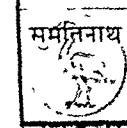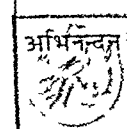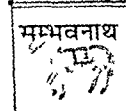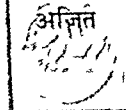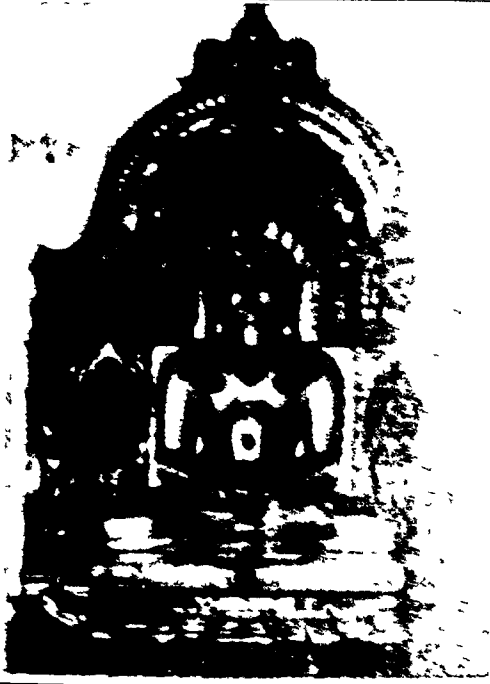
उद्भूतभीषणजलोदर-भारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः
त्वत्पाद-पंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ।

भयंकर जलोदर के भार से झुके हुए, जो कि शोचनीय दशा को प्राप्त हैं और जीवन से निराश हो चुके हैं, ऐसे मनुष्य तुम्हारे पादपंकजों की रज रूप अमृत के लेप से कामदेव के तुल्य रूप वाले बन जाते हैं।

आपाद-कण्ठमुरुश्रृंखल-वेष्टितांगाः,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति।।

कण्ठों से लेकर पैरों तक जिनका शरीर विशाल श्रृंखलाओं से वेष्टित है और प्रगाढ़ बन्धन के प्रकार से जिनकी जंघाएँ रगड़ी जा चुकी हैं, ऐसे लोग भी तुम्हारे नाम-रूप मन्त्र का निरंतर स्मरण करते हुए शीघ्र ही बन्धन के भय से मुक्त हो जाते हैं।
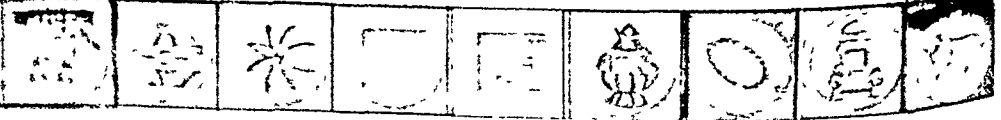
मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।

जो भी कोई बुद्धिशाली व्यकित तुम्हारे इस स्तोत्र को पढ़ता है, तो उसके मदोन्मत्त हाथी, मृगराज, दवानल, भुजंग, संग्राम, समुद्र, जलोदर आदि से उत्पन्न होने वाले समस्त भय विनष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार कि भय से दूसरे भय का विलोप हो जाता है।
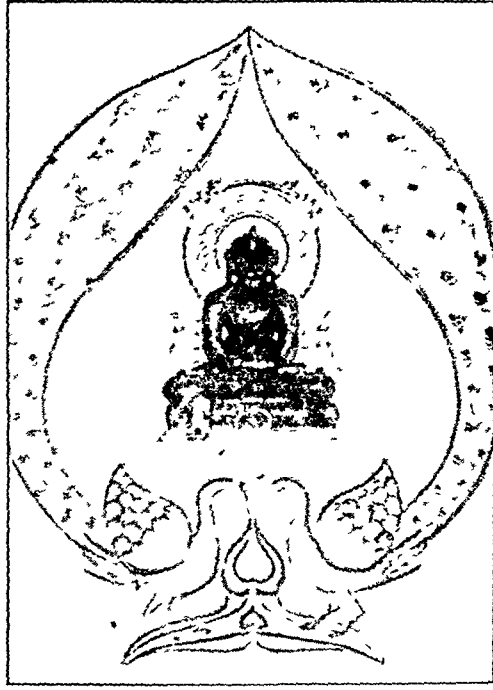
स्तोत्रस्त्रजं तव जिनेन्द्र! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया विविध रुचिर वर्णविचित्रपुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कंठगतामजस्त्रं,
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः।।

हे जिनेन्द्र! तुम्हारे गुण रूर धागे में मैंने जो यह भक्ति पूर्वक रुचिकर वर्ण और विचित्र पूष्पों से स्तुति रूप माला पिरोया है, इसे जो भी कोई संसार में निरंतर अपने कण्ठों में धारण करेगा उस आत्माभिमानी (मानतुंग) को लक्ष्मी स्वयं विवश होकर वह लेती है।
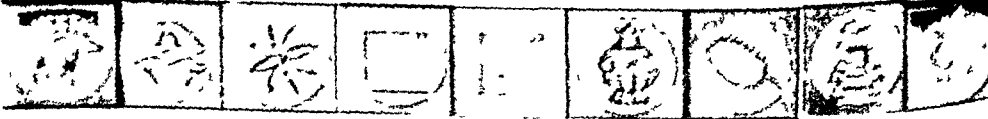
ॐ

भक्तामर - सौरभ

द्वितीय खण्ड - भक्तामर स्तोत्र

मूल पाठ, अन्वय, विस्तृत एवं तुलनात्मक व्याख्या

भक्तामर-स्तोत्र

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।1।।

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मयतत्त्वबोधा —
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्त — हरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्।।2।।

अन्वय — भक्तामर प्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकं दलित पाप तमोवितानं युगादौ भवजले पततां जनानामालम्बनं जिनपादयुगं सम्यक् प्रणम्य सकलवाङ्मय तत्त्वबोधात्–उद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः जगत्त्रितय चित्तहरैः उदारैः स्तोत्रैः यः संस्तुतः तं प्रथमं जिनेन्द्र किल अहं अपि स्तोष्ये।।1-2।।

अनुवाद — भकितयुक्त (श्रद्धायुक्त) देवों के झुके हुए मुकुटो की मणियों को प्रकाशित करने वाले, पाप रूप तम (अन्धकार) के समूह को दलित (समाप्त) करने वाले, युग के आरम्भ में संसार रूपी जल (समुद्र, संसार समुद्र) में गिरते हुए जीवों के लिए आलम्वन स्वरूप जिन भगवान् के चरण युगलों को सम्यक् रूप से (भलीभाति, त्रिकरणशुद्धि के द्वारा) प्रणाम कर, सम्पूर्ण वाङ्मय के रहस्य को

जानने से उत्पन्न बुद्धि, उससे प्रवीण देवेन्द्रों के द्वारा तीनों लोकों के चित्त का हरण करने वाले स्तोत्रों से जिनकी स्तुति की गई है, उन प्रथम जिनेन्द्र भगवान् ऋषभ देव को ही मैं (मानतुङ्ग) भी स्तुति कर रहा हूँ।

व्याख्या — भक्तामर प्रणतमौलिमणि प्रभाणामुद्योतकम् — भक्ताः परिचर्यायुक्ताः येऽमराः देवास्तेषां नमस्कार वशात् प्रणताः नम्राः ये मौलयो मुकुटानि शिरांसि वा तेषु तेषां वा मणयः चन्द्रकान्तादयस्तेषां प्रभारुचयस्तासां उद्योतकं-प्रकाशकमिति। भक्ति वशात् जो देवतागण नमस्कार के क्रम में पैरों पर झुके हुए हैं। उन देवगणों के मणिमुकुट की प्रभा को भी प्रकाशित करने वाला। यहां उदात्त अलंकार है। मम्मट ने उदात्त की परिभाषा इस प्रकार की है:

उदातं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्
उपलक्षणमंगभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे।।

अर्थात् वस्तु की समृद्धि का वर्णन तथा वर्ण्यवस्तु के अंग के रूप में महापुरूषों के चरित्र के उपस्थापन को उदात्त कहते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में भगवान् ऋषभ देव की अतिशय समृद्धि द्योतित है। प्रभु के पाद युगल इतने प्रकाशयुक्त हैं कि देवों की सिरस्थ मुकुटमणियों की प्रभा को भी प्रकाशित करते हैं, विद्योतित करते हैं। यह पद जिनपाद युगल का विशेषण है। इस विशेषण से भगवान् के प्रकाश स्वरूप का निर्देश किया गया है। ओज, प्रकाश, तेज, दीप्ति आदि गुणों के द्योतक शब्दों का विनिवेशन होने से ओजगुण है। ओजगुण का स्वरूप है — दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीर रस स्थितिः।

उद्योतकम् — उद्योतक शब्द का द्वितीय एक वचन, ऋषभदेव का विशेपण।

उद्योतयतीति उद्योतकः प्रकाशकः। जो उद्योतित करे, प्रकाशित करे वह उद्योतक है। प्रकाशक है।

दलितपापतमोवितानम् — यह जिन पाद युगल का विशेषण है। द्वितीय एक वचन।

दलितं क्षिप्तं पापमेव तमोवितानं-ध्वान्तजालं येन तत् (गुण) पापान्येव तमांसि पाप तमांसि पापतमसां वितानं पापतमोवितानम् षष्ठीतत्पुरूष, दलित पाप तमोवितानं येन तत् अर्थात् पाप रूप अन्धकार के प्रसार को समाप्त करने वाले प्रभु के चरणों की। वितान-फैलाव, प्रसार, विस्तार, चंदोवा — expansion, extension, spreading, a canopy

इस विशेषण के द्वारा भगवान् के पापक्षयकारी रूप की अभिव्यंजना हो रही है।

युगादौ — युगस्य आदिः युगादिः तस्मिन् युगादौ — युग के आदि में, In the beginning of the age

युगादौ एतदवसर्पिणीतृतीयारकपर्यन्ते चतुर्थारकस्यादौ (मे.वि.)।

भवजले पततां जनानामालम्बनम् — संसार रूपी जल में (सागर में) गिरते हुए लोगों के लिए आलम्बन स्वरूप। यह भी जिनपाद युगल का विशेषण है। भवो-जन्मजरामरण रूप संसार स एव जलं, तत्र भवजले पततां मज्जतां जनानां भव्य सत्त्वानामालम्बनम् — आधारः अर्थात् जन्मजरामरणरूप संसार रूपी जल में डूबते हुए भव्य जीवों के लिए आधार स्वरूप। भक्ति संसार में भक्त उसी का शरण ग्रहण करता जो भव्य जीवों का, दुःखित प्राणियों का, पीड़ितजनों का सहारा हो सके। जब जन्मजरा, मृत्युरूप संसार सामने होता है तो कोई समर्थ ही बचा सकता है। इस प्रकार की ध्वनि स्तोत्र काव्यों में भी अनुगूंजित है। कल्याण मन्दिर स्तोत्र का भक्त कहता है —

संसार सागर निमज्जदशेषजन्तु
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य।।

(कल्याणमन्दिर स्तोत्र– 1)

भागवत पुराण में अर्जुन कहता है —

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयंकर।
त्वमेको दह्यामानानामपवर्गोऽसि संसृतेः।।

भा पु 1722

अर्थात् हे कृष्ण, महाबाहु, भक्तों को अभयदेने वाले संसार की धधकती हुई अग्नि में जलते हुए जीवों के एकमात्र रक्षक तुम्ही हो।

जिनपादयुगम् — प्रभु जिनेश्वर के दोनों पैरों का। जयति रागादीन् जिनः, पादयोर्युगं पादयुगं जिनस्य पादयुगं जिनपादयुगम् (ष. त.)

सम्यक् प्रणम्य — सम्यक् रूप से (त्रिकरण शुद्धि के द्वारा) प्रणाम कर।

सम्यक् शब्द का प्रयोग मन, वाणी और शरीर तीनों के योग को प्रकट करने के लिए किया गया है। प्रणाम या नुति सामान्य नहीं बल्कि मन, वाणी और शरीर की शुद्धिपूर्वक सम्पन्न करके।

सम्यक् — मनोवक्कायोचित प्रकारेण (मेवृ) इस पद के प्रयोग से केवल श्रद्धा नही बल्कि प्रभु के गुणों का ज्ञान भी द्योतित हो रहा है अर्थात् भक्ति एवं बहुमान युक्त होकर तथा गुणों को जानकर किया गया प्रणाम सम्यक् होता है — भक्तिबहुमानयुक्तं गुणावबोध सहितं वा (कवृ) सम्यक् त्रिकरण शुद्धया नत्वा (गुवृ)।

प्रणम्य — प्रकर्षेण नत्वा प्रणम्य (मेवृ)।

सकल वाङ्मयतत्त्ववोधात् = सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्वाववोध (सम्यक् ज्ञान) से

वाङ्मय = शास्त्र, वाङ्मय — शास्त्रजातम् (गुवृ) 'सर्वशास्त्राणां तत्त्वं रहस्यं भावार्थः तस्यज्ञानात् (मेवृ) अर्थात् सभी शास्त्रों के रहस्य को जान लेने से'

उद्भूत बुद्धि पटुभिः — सम्पूर्ण शास्त्रों के रहस्य ज्ञान से उत्पन्न बुद्धि उससे पटु, कुशल। यह सुरलोकनाथ (देवेन्द्र) का विशेषण है।

सुरलोकनाथैः = देवेन्द्रों के द्वारा। सुराणां लोकाः सुरलोका सुरलोकानां नाथाः सुरलोकनाथाः (ष त.) तैः। यहां कर्ता में तृतीया विभक्ति हुई है।

जगत्रियचित्तहरैः — तीनों लोकों के चित्त को हरण करने वाले। त्रयोऽवयवा अस्य त्रितयं, जगतां त्रितयं, जगत्रितयं, जगत्रितयस्य चित्तानि तानि हरन्तीति जगत्रियचित्तहराणि तैः। यह स्तोत्र का विशेषण है। आकर्षण गुण काव्य का प्राण एंवं सौन्दर्य बोध की आधारभूमि है। प्रभु के नाम रूप गुणात्मक स्तोत्र सम्पूर्ण जगत् के लिए मनोरम हैं। वैसे स्तोत्रों के द्वारा।

उदारैः — उत्कृष्ट, महान, उदात्त आदि अर्थो से युक्त, यह भी स्तोत्र का विशेषण है।

उदारैः प्रधानैः विविधार्थयुक्तैः (मेवृ), उदारै = महार्थैः (गुवृ)। उदार पद के द्वारा कवि की कवित्व शक्ति की सूचना मिलती है। कवि या भक्त महनीय अर्थ युक्त पदों का पक्षपाती प्रतीत होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में उदार और उदात्त दो नाम मिलते हैं। मम्मट ने वस्तु की समृद्धि को उदात्त कहा है। (काव्य प्रकाश 10 115), आचार्य विश्वनाथ लोकातिशयता को उदात्त कहते हैं (सा. द 10 94), कुवलयानंदकार ने श्लाध्य चरित्र और समृद्धि को उदात्त कहा है। काव्यगुणों मे भी उदार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदग्धोक्ति को उदारता गुण कहा गया है। काव्य में उत्कृष्ट अर्थ का वर्णन, मनोरमभावों की अभिव्यक्ति तथा नृत्यकरते हुए से पदों की योजना उदार गुण है। आचार्यभरत ने लिखा है —

अनेकार्थविशेषैर्यत्सूक्तैः सौष्ठवसंयुतै·
उपतमतिविचित्रार्थैरुदारं तच्च की

कुछ लोग सुन्दर विशेषणों के प्रयोग को भी उदारत्व का एक भेद मानते हैं। उत्कृष्ट अर्थवर्णन अर्थगत उदारत्व है तथा नृत्यत्प्राय पदों का प्रयोग शब्दगत उदारत्व है। इसका शब्दगत भेद काव्य में ध्वनि-संगीत पर बल देता है। भक्तामर कार ने अपने काव्य (स्तोत्र) की उत्कृष्टता को प्रथमतः ही सूचित कर दिया है।

स्तोत्रैः — स्तोत्र के द्वारा।

स्तोत्रैः = स्तवनैः (कवृ)। समर्थ के गुणों का संकीर्तन स्तोत्र कहलाता है, जिसमें रचना छन्दोबद्ध होती है। शास्त्रकारों ने स्तोत्र का लक्षण इस प्रकार दिया है —

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थनाचेति षड्विधं स्तोत्र लक्षणम्।।

(भक्तामर रहस्य (गुजराती प्रकाशन) पृ० 21 से उधृत)

अर्थात् नमस्कार, आशीर्वाद, सिद्धान्तकथन, शूरवीरता आदि का वर्णन, ऐश्वर्य का विवरण और प्रार्थना आदि षड्लक्षणयुक्त स्तोत्र होता है।

यः = जो जिनेन्द्र देव।

संस्तुतः = सम्यक् रूप से स्तुत है, जिसकी स्तुति की गई है।

संस्तुतः = सम्यग् नुतः (गु वृ) स्तुतिविषयकृत इत्यर्थः (मे वृ) संस्तुतः सम्यग्भक्ति बहुमानपुरःसरं भगवतदतिशयितगुणपरिज्ञान पूर्वकं वा स्तुतो-वन्दितः (क. वृ.)

तं प्रथमं जिनन्द्रम् = उस प्रथम जिनेन्द्र भगवान् ऋषभ को

किल — यह निश्चयार्थ वोधक अव्यय है। निश्चय ही, वेशक, निस्संदेह, अवश्य आदि अर्थो में प्रयुक्त किल अव्यय के द्वारा यह द्योतित हो रहा है कि भक्त निस्संदेह रूप से प्रथम जिनेन्द्र भगवान् की ही स्तुति कर रहा है, अन्य की नहीं। टीकाकार ने इसी ओर निर्देश किया है — किलेति सत्ये (कवृ)।

अहम् = मैं मानतुङ्ग,

अपि = भी। यहां अपि शब्द के द्वारा भक्त अपनी असमर्थता प्रभु के सामने प्रकट कर रहा है। जिसकी इन्द्रादि देवता स्तुति करते हैं या जो इन्द्रों के द्वारा स्तुत है उसकी मैं मानतुङ्ग भी स्तुति कर रहा हूँ। टीकाकारों ने भी इस आशय की ओर निर्देश किया है — अपि इति असामर्थ्यद्योतने (मेवृ) अहमपि मानतुङ्गाचार्यो अज्ञोऽपि अनौद्धत्ये सुरेन्द्राद्यपेक्षया जडधी: अर्थात् मैं मानतुंग, जो सुरेन्द्रादि की अपेक्षा मूर्ख है, भी स्तुति कर रहा हूं।

प्रभु के सामने, उपास्य के सामने अपनी हीनता, दीनता प्रकट करना भक्ति का प्रथम सोपान है। जब अहं टुटता है तब भक्ति प्रारंभ होती है।

स्तोष्ये — स्तुति करता हूँ।

स्तोष्ये — गुणोद्‌भासनेन कीर्तयिष्यामि (गु. वृ.) स्तवन विषय करिष्य इत्यर्थ: (मेवृ) स्वतनं विधास्ये (कवृ)।

इस पद युगल में उदात्त, व्यतिरेक, परिकर, काव्यलिंग, रूपक, संकर एवं संसृष्टि अंलकारों का सुन्दर विनियोजन हुआ है। माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुणों का मनोरम संगम है। समस्त भक्तामर में वैदर्भी का साम्राज्य है। वसन्ततिलक छन्द है।

व्यतिरेक — उपमान की•अपेक्षा उपमेय के गुणाधिकय वर्णन को व्यतिरेक कहा जाता है:—

उपमानाद्यन्यस्य व्यतिरेक: स एव स:। भक्तामर-उद्योतकम् में व्यतिरेक एवं उदात्त अलंकार है। उदात्त का वर्णन पहले आ चुका है। मणि की प्रभा से चरणयुगल की प्रभा का आधिक्य 'उद्योतक' पद से अभिव्यञ्जित है इसलिए व्यतिरेक अंलकार है।

परिकर :— साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग परिकर अलंकार है। विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति: परिकरस्तु स:।

काव्यप्रकाश 10/118

उद्योतक, दलितपापतमोवितान आदि साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकर अलंकार है।

काव्यलिंग — जहां कारण कार्य (हेतु और हेतुमान) वहां काव्यलिंग होता है — काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता।

काव्यप्रकाश 10/114

यः संस्तुतः — सुरलोकनाथैः में काव्यलिंग है। यहां इन्द्रों की बुद्धि कुशलता शास्त्रज्ञान से उत्पन्न है। सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात् — कारण, उद्भूत-कार्य।

रूपक — जहां उपमान और उपमेय का अभेदारोप हो, दोनो मिलकर एक बन गए हों उसे रूपक कहते हैं —

तद्रूपकमभेदोपमानोपमेययोः,

काव्यप्रकाश 10/93

पापतम में रूपक है। पाप उपमेय है और तम उपमान, यहाँ दोनों मिलकर एक हो गए हैं।

संकर — नीर-क्षीर न्याय के अनुसार परस्पर मिले हुए अलंकारों को संकर कहते हैं।

अविश्रांतिजुषामात्मन्यांगांगित्वं तु संकरः

— काव्यप्रकाश 10/14

नीरक्षीर न्यायेन तु संकरः

— अलंकार सर्वस्व

इसमें अनेक अलंकार दूध और पानी की तरह इस प्रकार मिले रहते हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है। दलितपापतमोवितानम् में पापतम में रूपक है तथा सम्पूर्ण पद में परिकर। यहां परिकर और रूपक का सम्मिश्रण नीर-क्षीर न्याय से है।

संसृष्टि — तिलतंडुलन्याय से परस्पर निरपेक्ष अलंकारों की एकत्र संस्थिति को संकर कहते हैं। इसमें दो अलंकारो की परस्पर निरपेक्ष सत्ता होती है — सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः

काव्य प्रकाश 10/139

गुण — काव्य के शोभाकारक धर्म को गुण कहते हैं। गुण नित्य हैं। इनके अभाव में काव्य में सौन्दर्याधान नहीं हो सकता है। आचार्य मम्मट के अनुसार आत्मा के सौन्दर्यादि गुणों के समान रस के उत्कर्षाधायक एवं अपरिहार्य धर्म गुण हैं। इनकी काव्य में अचल स्थिति होती है —

ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

मुख्यतः तीन गुण माने जाते हैं। आचार्य मम्मट ने नवरस से उत्पन्न सामाजिकों के चित्त की तीन अवस्था — द्रुति, विस्तार और विकास के आधार पर तीन गुण-माधुर्य ओज और प्रसाद आदि स्वीकार किया है।

माधुर्य — चित्त को द्रवीभूत बनाने वाला आह्लाद ही माधुर्य है। शृंगार, करुणा और शान्त रस में क्रमशः इसका आधिक्य होता है। टवर्ग को छोड़कर क से म पर्यन्त स्पर्श ध्वनियां जब पूर्व भाग में अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त होती हैं, ह्रस्वयुक्त रकार और णकार, द्विरुक्त त, ल, न एवं, र - ह आदि से सयुक्त य ल आदि वर्ण माधुर्य व्यंजक वर्ण होते हैं।

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलंभे तच्छांते चातिशयान्वितम्।।
मूर्ध्नि वर्गांत्यगाः स्पर्शा अटवर्गारणोलघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

काव्यप्रकाश 8 68, 74

इसमे भकितरस (शान्तिभकितरस) का विवेचन है तथा र ण द्विरुक्त त आदि वर्ण माधुर्य व्यंजक हैं इसलिए माधुर्य गुण है। सम्पूर्ण स्तोत्र मे माधुर्य गुण यत्रतत्र विद्यमान है।

ओजगुण — जो गुण मन में उत्साह, वीरता आदि को जागृत करे,

उस दीप्ति प्रधान गुण को ओज कहते हैं। इसका उत्तरोत्तर विकास वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस में पाया जाता है:—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररस स्थितिः।
वीभत्स रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।।

इसकी अभिव्यकित कठोर तथा परूष वर्णो — ट, ठ, ड, ढ, ड़, द्वित्ववर्णो रेफ एवं लम्बे-लम्बे सामाजिक पदों द्वारा होती है। भक्तामर में ओजगुण का आधिक्य है क्योंकि दीप्ति, उदात्तता, भव्यता, ओजस्विता, उत्साह आदि गुण इसमें विद्यमान हैं तथा लम्बे-लम्बे सामासिक पदों का भी यत्र-तत्र विनियोजन हुआ है। विस्तृत जानकारी के लिए देखें लेखककृत — (भक्तामर संदोह पृ० 54-56)

प्रसाद गुण — जो सूखे इंधन में अग्नि के सदृश या धुले वस्त्र मे स्वच्छ जल के समान सहसा चित्त में व्याप्त हो जाए वह सभी रसों और सभी रचनाओं में रहने वाला प्रसाद-गुण है। इसमें ऐसे शब्द प्रयुकत होते हैं जिनके श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

शुष्केंधनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित स्थितिः।

काव्यप्रकाश 8, 7, 8

युग्म — दो छन्दों या श्लोकों में जब वाक्य समाप्त हो उसे युग्म या युग्मक कहते हैं। कविराज विश्वनाथ ने लिखा है — द्वाभ्यां तु युग्मकम् (साहित्यदर्पण 6/314) युग्मक काव्य मुकतक का एक भेद है। पूर्वापर निरपेक्ष रूप से जहां प्रत्येक श्लोक रसचर्वणा में समर्थ होता है उसे मुकतक कहते हैं —

मुकतकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्

अग्निपुराण 337/33

इसे अनिबद्ध काव्य भी कहते हैं। भक्तामर स्तोत्र का प्रत्येक श्लोक स्वतंत्र रूप से रसोत्पादन में समर्थ है इसलिए उसे मुक्तक कहा जा सकता है। प्रथम दो श्लोकों में एक ही वाक्य एवं एक ही क्रिया है इसलिए उसे युग्मक कहा गया है।

विशेष — प्रथम श्लोक में टीकाकारों ने अतिशयों का निर्देश किया है। अतिशय का अर्थ है महिमा, वैशिष्ट्य, गुणवत्ता, श्रेष्ठता, प्रभाव आदि। तीर्थंकर भगवान् के 24 अतिशय होते हैं जिनमें से सारभूत चार अतिशयों का निर्देश प्रथम श्लोक में मिलता है — 'उद्योतकम्' पद से पूजातिशय, 'दलितपाप तमोवितानाम्' पद से अपायापगमातिशय (सर्वथा दोषरहितता) तथा 'आलम्बनम्' पद से ज्ञान और वचनातिशय अभिव्यञ्जित हो रहा है क्योंकि ज्ञानी और सद्वचन ही संसार के आलम्बन अथवा आधार हैं। (गु. वृ.)।

छन्द — इस स्तोत्र में वसन्ततिलक छन्द है। स्तोत्र साहित्य का यह अत्यन्त प्रिय छन्द है। हृदयगत सहज, सरल एवं द्रवीभूत अथवा विगलित भावनाओं की अभिव्यक्ति में वसन्ततिलक छन्द का सहजतया प्रयोग होता है। भागवतपुराण के प्रसिद्ध 'ध्रुवस्तुति' में यही छन्द प्रयुक्त है।

यह समछन्द है। प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण एवं दो गुरु वर्ण के क्रम से 14 अक्षर होते हैं। छन्दोमञ्जरी (2 15) में लक्षण निर्दिष्ट है: ज्ञेय वसन्ततिलकं तभजाजगौगः।।1-2।।

काव्य — भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक को, काव्य-शास्त्रीय गुणों की अवस्थिति के कारण काव्य कहा जाता है। मेघविजय ने अपनी वृत्ति में प्रत्येक श्लोक के अन्त में इतिकाव्यार्थः का प्रयोग किया है।

इन श्लोकों (1 2) में स्तव्य के गुणों एवं उनकी महिमा का निर्देश किया गया है। स्तव्य प्रकाशक, पापविनाशक, संसार दुःख से पीडित जीवों के लिए एकमात्र शरण तथा त्रैलोक्यपूज्य है। (विशेष के लिए देखें लेखक कृत 'भक्तामर-संदोह' पृ० 19)।

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ!
स्तोतुं समुद्यत-मतिर् विगत-त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।3।।

अन्वय — विवुधार्चितपादपीठ! विगतत्रपः अहं बुद्धया विना अपि (त्वां) स्तोतुं समुद्यतमतिः (अस्मि)। जलसंस्थितं इन्दुबिम्बं बालं विहाय अन्यः कः जनः सहसा ग्रहीतुं इच्छति?

अनुवाद — देवों के द्वारा पूजित चरण न्यास स्थान वाले हे भगवन्! लज्जारहित मैं बुद्धि के बिना भी आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूं। जल में स्थित चन्द्र बिम्ब को बालक को छोड़कर अन्य कौन ग्रहण करना चाहता है?

व्याख्या — विबुधार्चितपादपीठ — देवों के द्वारा पूजित है चरणन्यास स्थान जिसका वह। यह भगवान् ऋषभ का विशेषण है, जो त्रैलोक्य पूज्यता को सूचित कर रहा है। इस पद में प्रभु के उदात्त गुणों के चित्रण से उदात्त तथा साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है। पादयोः पीठं पादपीठं, विबुधैः अर्चितं पादपीठं यस्य स तत्संबोधने विबुधार्चित पाद पीठ (मे वृ) देवपूजितचरण-न्यासस्थान (मे. वृ.), दैवतव्रातपूजितपादासन (गु वि) देवपूजितचरणासन (क. वृ.)।

विबुध-सुर, देवता, विद्वान, बुद्धिमान्

पादपीठ-पैर रखने का पीढ़ा

अर्चित-पूजित, 'अर्च पूजायाम्' भ्वादिगणीय धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर अर्चित शब्द निष्पन्न हुआ है।

विगतत्रपः लज्जारहित। स्तुति करना या श्रेष्ठ के गुणों का वर्णन सामर्थ्य से बाहर है क्योंकि प्रभु गुण गायन में वृहस्पति भी शक्य नहीं है।

सामान्य व्यवहार में अपने सामर्थ्य से अधिक वस्तु को पाने की इच्छा निर्लजता का द्योतक है, लेकिन भकितशास्त्र में इसका अधिक महत्त्व है। अपना अहंकार जब तक होता है तब तक भकित नहीं हो सकती। अहंकार विगलन ही भकित है। भक्त जैसा भी है वह अपने प्रभु के सामने, प्रिय के सामने उपस्थित होकर उन्हीं का हो जाता है या प्रभु के सामने अपना सब कुछ प्रकट कर देता है। विगतत्रप: — अशकयवस्तुनि प्रवर्तनात् निर्लज्ज: (गु. वि) लज्जारहित: (मे. वृ.) निर्लज्ज: (क. वृ.) काव्यलिंग अलंकार है।

स्तोतुं समुद्यतमति: — स्तुति करने के लिए उद्यत है मति जिसकी वह मैं मानतुङ्ग। स्तवाय कृतमतिव्यापारो वर्ते (गु. वि.) स्तुति करने की क्षमता-बुद्धि नहीं है फिर भी स्तुति कर रहा हूँ। कारण के अभाव मे कार्य हो रहा है इसलिए विभावना अलंकार है। क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि फलव्यकित: विभावना-काव्यप्रकाश 10/117 अर्थात् क्रिया (कारण) के प्रतिषेध होने पर भी जहां फल या कार्य हो जाये उसे विभावना कहते हैं।

स्तोतुम् — गुण कथन करने के लिए, स्तुति करने के लिए। स्तुञ् (ष्टुञ्) स्तुतौ धातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ है।

बालं विहाय इच्छति — बालक को छोड़कर अन्य कौन व्यकित है जो जल में स्थित चन्द्रबिम्ब को ग्रहण करने की इच्छा करता है। इसमे भक्त अपनी ह्रस्वता-अज्ञता को सूचित कर रहा है और प्रभु के गुणो का गान संभव नहीं है — यह भी चद्रबिंबग्रहण न्याय से सूचित हो रहा है।

इस उत्तरार्ध श्लोक में टीकाकार मेघविजय ने अर्थान्तरन्यास अलकार की सूचना दी है।

जब सामान्य का विशेष के साथ, विशेष का सामान्य के साथ समर्थन किया जाए तब अर्थातरन्यास अलंकार होता है —

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास: साधर्म्येणेतरेण वा।।

'कःग्रहितुमिच्छति' कौन ग्रहण करने की इच्छा करता है अर्थात् कोई नहीं। यहाँ पर कैमुतिक न्याय से अर्थातपत्ति अलंकार है। जिसमें दंडापूपिका है वह अर्थापत्ति अलंकार होता है।

दंडापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।

साहित्यदर्पण 10/83

इस श्लोक में उदात्त, परिकर, काव्यलिंग, विभावना, अर्थान्तरन्यास एवं अर्थातपत्ति अलंकारों का संगम है। अर्थापत्ति और अर्थान्तरन्यास नीर क्षीर न्याय से उपस्थित हैं इसलिए संकर तथा शेष तिल-तंडुल न्याय से हैं इसलिए संसृष्टि अलंकार है।

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र! शशांककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरु-प्रतिमोऽपि बुद्धया।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्।।4।।

अन्वय — गुणसमुद्र! ते शशाङ्ककान्तान् गुणान् सुरगुरु प्रतिमः बुद्धया अपि कः वक्तुं क्षमः? वा कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं अम्बुनिधिं भुजाभ्या तरीतुं कः अलम्।।4।।

अनुवाद — हे गुणों के सागर! चन्द्रमा की कान्ति के समान तुम्हारे गुणों का बृहस्पति के सदृश बुद्धि से भी कौन वर्णन कर सकता है? अथवा प्रलयकालीन पवन से उद्धत (उछलते हुए) मगर घड़ियाल से युक्त समुद्र को अपनी भुजाओं से तैरने में कौन समर्थ है?

व्याख्या — जैसे प्रलयकालीन दुस्तर समुद्र को, अथाह सागर को कोई अपनी भुजाओं से तैर नहीं सकता, उसी प्रकार आपके गुणों का वर्णन कोई भी नहीं कर सकता है। आपकी महिमा अवर्णनीय है। भक्त की

अपनी ह्रस्वता तथा प्रभु के गुणों की महत्ता सूचित है। इस प्रकार की ध्वनि अन्य स्तोत्रों में भी उपलब्ध है :—

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः?।।

(कल्याणमन्दिर स्तोत्र-4)

(अर्थात् हे नाथ! मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा साक्षात् आपके गुणों का अनुभव करते हुए भी कौन वर्णन करने में समर्थ है। प्रलयकालीन अवस्था में विक्षुब्ध जल वाले समुद्र के प्रकट रत्नराशि को भी कौन माप सकता है?)

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं! न याति।।

(शिवमहिम्न स्तोत्र)

(अर्थात् हे भगवान्! यदि सरस्वती नील पर्वत के बराबर काजल स्याही समुद्ररूपी पात्र में डालकर कल्पवृक्ष रूपी लेखनी से आपके गुणो को लिखे तो भी पार नहीं पा सकती है क्योंकि आपके अनन्त गुण हैं और हमारी तो सामर्थ्य ही क्या है जो आपके गुणों का वर्णन कर सके।)

भागवतपुराण का गजेन्द्र कहता है:—

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु।।

भागवत-पराण ८ ३ ६

अर्थात् आपकी लीलाओं के रहस्य को जानना बहुत ही कठिन है। आप नट की भांति अनेक वेश को धारण करते हैं। आपके वास्तविक स्वरूप को न देवता जानते हैं न ऋषि। फिर दूसरा कौन ऐसा प्राणी है जो वहां तक जा सके और उसका वर्णन कर सके। ऐसे आप ही मेरी रक्षा करें।

गुणसुमद्र — रत्नत्रय रूप गुणों के समुद्र या आत्मिक गुणों के खनि अथवा स्थैर्य, गांभीर्य धैर्यादि गुण रूपी रत्नों के रत्नाकर। यह प्रभु का विशेषण है, जो उनकी गुणों की अतिशयता या आधिक्य को सूचित कर रह है। साभिप्राय विशेषण है इसलिए परिकर तथा 'गुण-समुद्र' में रूपक है। उपमान-उपमेय दोनों मिलकर यहां एक पद बन गए हैं। टीकाकारो ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है — स्थैर्यगाम्भीर्यधैर्यादिगुणरत्नरत्नाकर (गु. वि.)। गुणरत्नाकर (क वृ)

समास — गुणानां समुद्रो गुणसमुद्रः तस्य संबोधने हे गुणसमुद्र (क वृ.), गुणानां समुद्र इव समुद्रो गुणसमुद्रः तत्संबोधने गुणसमुद्र (मे. वृ.)।

शशाङ्ककान्तान् गुणान् — चन्द्रमा के समान कान्त-मनोहर गुणो को। 'शशाङ्ककान्तान्' पद 'गुणान्' का विशेषण है शशाङ्कवत् कान्ता शशाङ्ककान्ताः तान् - मध्यमपद-लोपी समास। इसमें उपमा अलंकार है। गुणों की उपमा चन्द्रमा से दी गई है।

अमूर्त्त उपमेय गुण का मूर्त उपमान — शशाङ्क का प्रयोग किया गया है।

शशाङ्ककान्तान्-चन्द्रवत्मनोहरान् (मे. वृ.) — निर्मल कलाभृत्कमनीयान् शान्ततादीन् गुणान् (गु. वि.)

चन्द्रवदुज्ज्वलान् (क. वृ.)

कान्तपद के प्रयोग से गुणों की मनोहारिता एवं कमनीयता प्रकट होती हैं। प्रभु के गुण ऐसे हैं जो सबको प्रिय लगते हैं।

सुरगुरुप्रतिमः बुद्धया अपि = बृहस्पति के समान बुद्धि से भी

सुरगुरुप्रतिमः = वाचस्पतिसम (गु वि.)

सुरगुरुप्रतिमः — बृहस्पतिप्रतिबिम्बः (मे. वृ.) बृहस्पतिः तु
(कवृ)।

सुराणां गुरुः सुरगुरुः (त. पु.) सुरगुरोः प्रतिमः सुरगुरुप्रतिमः (त.

कः वक्तुं क्षमः — कौन कथन कर सकता है? अर्थात् कोई
अर्थापत्ति अलंकार है।

वा = अथवा

कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम् — प्रलयकालीन हवा से
मगरमच्छ आदि भयंकर जीवों के समूह (से युक्त को)। यह अम्बुनिधि
सागर का विशेषण है। लौकिक एवं पौराणिक मान्यता है कि प्रलयका
भयंकर तुफान चलते हैं, जिससे समुद्र विक्षुब्ध होता है और सामुद्रिक
चंचल हो जाते हैं। वैसे भयंकर समुद्र को अपनी भुजाओं से कौन पार
सकता है। अर्थात् कोई नहीं। अर्थान्तरन्यास एवं अर्थापत्ति अलंकार। दृ
अलंकार की भी ध्वनि आ रही है। मम्मट ने दृष्टान्त का लक्षण दिया है

दृष्टांतः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिंबनम्

काव्य प्रकाश 10

अर्थात् उपमेय वाक्य, उपमान वाक्य और उनके साधारण ध
बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो तो दृष्टान्त अलंकार होता है। इस श्लोक
शशाङ्कान्त गुण और समुद्र तथा वाणी और भुजा में बिम्ब प्रतिबिम्ब
है। उत्कृष्टता एवं समृद्धि द्योतित है इसलिए उदात्त अलंकार है।

समास — कल्पस्य अन्तः कल्पान्तः कल्पान्ताश्चासौ का
कल्पान्तकालः, कल्पान्तकालस्य पवनः कल्पान्तकालपवनः कल्पान्तकाल
उद्धताः कल्पान्तकालपवनोद्धताः, नक्राश्च चक्राश्च नक्रचक्राः कल्पान्तकालपवन
नक्रचक्रायस्मा तम्।

कः अलम् = कौन समर्थ हो सकता है। 'अलम्' के अनेक अर्थ होते हैं। कोशकारों एवं आचार्यो ने इसके निम्नलिखित अर्थो का निर्देश किया है:—

1 पर्याप्त, यथेष्ट, काफी,

2 योग्य, सक्षम,

3 बस, बहुत हो चुका, कोई आवश्यकता नहीं,

4 पूर्ण रूप से, पूरी तरह से,

5 बहुत, अत्यधिक, बहुत ही अधिक।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।।5।।

अन्वय — मुनीशः सः अहम् विगतशक्तिः तथापि (तव) भक्तिवशात् अपि तव स्तवं कर्तु प्रवृत्तः। मृगः प्रीत्या आत्मवीर्यम् अविचार्य निजशिशोः परिपालनार्थम् किम् मृगेन्द्रम् न अभ्येति।।5।।

अनुवाद — हे मुनीश! वह (स्तुति करने में असमर्थ) मैं शक्तिहीन होते हुए ही भक्तिवशात् आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। हरिण प्रीति के कारण (वात्सल्य के कारण) अपनी शक्ति का विचार किए विना अपने शिशु की रक्षा के लिए क्या सिंह के सामने नहीं जाता? (सिंह पर आक्रमण नही करता?)।

व्याख्या — जैसे हरिण बलहीन होते हुए भी अपने शिशु की रक्षा के लिए सिह के साथ युद्ध करते हुए श्लाघ्य दशा को प्राप्त होता है। वैसे ही मैं मानतुङ्ग, (भक्त) मन्दमति होते हुए भी भक्ति के कारण स्तव में

प्रवृत्त होकर श्लाघ्यता को प्राप्त होऊंगा' यह तथ्य इस श्लोक में ध्वनित हो रहा है। भकित में वैसी शकित है जिससे असमर्थ भी समर्थ बन जाता है।

मुनीश — मुनियों में श्रेष्ठ। यह भगवान् ऋषभ के लिए सबोधनात्मक विशेषण पद प्रयुकत है। टीकाकारों ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया है — सकलयोगीश (गुवि) मुनीनामीशः मुनीशः तत्सम्बोधने मुनीश इस पद के द्वारा स्तव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित है।

स अहम् विगतिशकितः अपि — वह मैं शकितहीन होता हुआ भी। इस पद मे भकत का स्वरूप और भकित के प्रथम चरण का निर्देश है। जब तक अहंकार समाप्त नहीं होता तब तक भकित का प्रारम्भ होता ही नहीं है। विशेष देखें भक्तामर संदोह (लेखककृत) पृ० 18-19, 31-32 विगतशक्तिरपि क्षीणबलोऽपि (गु. वि.) निश्चितस्वीयासामर्थ्येऽपि (मेवृ.) यह भकत का विशेषण है। विशेषेण गता विगता शकितः यस्य स विगतशक्तिः तव भक्तिवशात् तब स्तवं कर्तु प्रवृतः (अस्मि)।

आपकी भकित के सामर्थ्य से स्तुति करने के लिए प्रवृत हुआ हूँ। 'तव' पद का प्रयोग 'स्तव' के साथ है लेकिन 'भक्तिवशात्' के साथ अध्याहार हुआ है। 'तव' का दोनों जगह प्रयोग अर्थवोध के लिए अनिवार्य है। टीकाकार ने 'डमरूकमणिन्याय' से 'तव' को दोनों जगह प्रयुकत माना है — 'डमरुकमणिन्यायेन उभयत्रापि तव प्रयोगः (गुवि.)।

स्तव-स्तोत्र, स्तुति, नुति।

प्रवृत्तः अस्मि — करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। यहां 'अस्मि' लुप्त क्रिया है यानि मूल में प्रयुकत नही है, अर्थबोध के लिए अध्याहार किया गया है। जहां किसी क्रिया का प्रयोग न सुनाई पड़े वहां पर अस्ति, भवति आदि क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए — 'यत्रान्यत् क्रिया पदं न श्रूयते तत्र अस्ति भवत्यादि — परः प्रयुज्यत इति न्यायात् अत्र 'अस्मि' इति क्रियापदम् (मेवृ)।

स्तुति करने का सामर्थ्य नही फिर भी स्तुति कार्य में प्रवृत्ति हो रही है — कारण के अभाव में कार्य का होना विभावना अलंकार है।

लोक सिद्ध दृष्टान्त के द्वारा पूर्व का स्पष्टीकरण कर रहे हैं –

मृगः – न अभ्येति। अपनी शकित का अंकन किए बिना हरिण प्रीति के कारण अपने शिशु की रक्षा के लिए सिंह पर आक्रमण नहीं करता? अर्थात् अवश्य करता है। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। भकत – मृग तथा भकित – प्रीति में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त तथा 'किम्' पद से कैमुतिक न्याय द्वारा अर्थापत्ति है। मृगेन्द्र = सिंह। मृगाणामिन्द्रः मृगेन्द्रस्तम्।

अभ्येति = सामने जाता है। अभि उपसर्ग पूर्वक अदादिगणीय इणगतौ धातु का प्रथम पुरुष एकवचन परस्मैपद लट् लकार (वर्तमानकाल) का रूप है।

अभि उपसर्ग का प्रयोग अभिमुख्य अर्थ में होता है – देखें यास्ककृत निरूकत-अभि इति आभिमुख्यम् – (निरूकत 1 3)

अभि उपसर्ग – की ओर, के सामने की दिशा मे आदि अर्थो को प्रकट करता है, साथ ही तीव्रता और प्राधान्यता को भी प्रकट करता है। तीव्रता से जाना, वेगपूर्वक आक्रमण करना। पूरे सामर्थ्य के साथ मृग-हरिण सिंह पर आक्रमण करता है – यह अभि से द्योतित हो रहा है। यहां सामान्य जाना अर्थ नहीं बल्कि पूरी शकित के साथ आक्रमण करना अर्थ है। अभ्येति – युद्धाय अभिमुखो भवति (गुवि) सम्मुखं यातीत्यर्थः (मेवृ.) आभिमुख्येन भवति सम्मुखं आगच्छतीत्यर्थः – (क. वृ.)।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद् भकितरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारु चूतकलिकानिकरैकहेतुः।।6।।

अन्वय – अल्पश्रुतम् श्रुतवताम् परिहासधाम माम् त्वद्भकितः एव बलात् मुखरीकुरूते। यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति, तत् चारुचूत कलिका-निकरैकहेतुः।

अनुवाद — अल्पज्ञान (अज्ञानता) के कारण शास्त्रज्ञ पुरुषों के लिए हंसी के पात्र मुझको तुम्हारी भक्ति ही बलपूर्वक मुखर बना रही है। क्योंकि कोयल वसन्त में कूजन करती है, उसके कूजन में सुन्दर आम्रवृक्षों के मंजरी-समूह ही एक मात्र कारण है।

व्याख्या — कवि (भक्त मानतुङ्ग) यहां प्रकट करना चाहता है कि जैसे वसन्त में आम्रमञ्जरियों का समूह ही कोयल की कूक ध्वनि का कारण है वैसे ही तुम्हारी भक्ति ही तुम्हारी स्तुति में मेरी प्रवृत्ति का कारण है। यहां उदात्त एवं उत्कृष्ट उपमानों का उपयोग हुआ है। दृष्टान्त, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, अनुप्रास आदि अलंकारों एवं माधुर्यादि गुणों का सौन्दर्य चर्व्य है। कोकिलकिल, मधौ-मधुरं, 'चारू-चूत' में उत्कृष्ट संगीत की सुस्वर ध्वनि अनुरणित है। आनुप्रासिक शब्द-सौन्दर्य की रमणीयता एवं मादकता विद्यमान है।

अल्पश्रुतम् — अल्प शास्त्र ज्ञान वाला।

अल्पानि-स्तोकानि श्रुतानि शास्त्रानि यस्य तम्। यह माम् (भक्त) का विशेषण है। मानतुङ्ग इस पद के द्वारा अपनी अहंकार हीनता को सूचित कर रहा है।

इसमें कवि का अनौद्धत्य द्योतित है।

श्रुतवतां परिहास धाम = विद्वानों के लिए हंसी का पात्र। ज्ञान की अल्पता के कारण विद्वानों के लिए हंसी के पात्र। कारण-कार्य का द्योतन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है। श्रुतवतां — दृष्टशास्त्राणां विदुषां परिहासधाम — हास्यास्पदम् (गुवि)। शास्त्रज्ञानां हास्यास्पदम् (मेवृ०)

माम् = मुझको, मानतुङ्ग को।

त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते — तुम्हारी भक्ति की मुखर बना रही है। अर्थात् तुम्हारी भक्ति में ही मुखर बनाने का सामर्थ्य है अन्य में नहीं। यहां भक्ति की महिमा का गान किया गया है।

भक्ति — भ्वादिगणीय भजसेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है सेवा, अनुराग, समर्पण आदि। विशेष के लिए देखें लेखककृत 'श्रीभद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन' पृ० 133-140 एवं प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० 128-132।

भक्ति के स्वरूप पर विविधाचार्यो ने विचार किया है। नारदभक्ति सूत्र के 84 सूत्रों में भक्ति की विस्तार से मीमांसा की गई है। वहां विविध आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है —

1 पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। ना. भ. सू. 15

व्यास के अनुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग ही भक्ति है।

2 कथादिष्विति गर्गः (16)

भगवत्कथाओं में अनुराग भक्ति है।

3 आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः 17

शाण्डिल्य के अनुसार आत्मस्वरूप के अविरोधी भावों में अनुराग ही भक्ति है अर्थात् आत्म-स्वरूप में रमण करना ही भक्ति है। शंकराचार्य ने भी इस तथ्य की ओर निर्देश दिया है —

मोक्षकारणसामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधियते।।

अर्थात् मोक्ष साधनों में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। अपने स्वरूप के अनुसन्धान को भक्ति कहते हैं।

4 नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।।19।।

देवर्षि नारद के मत में सभी कर्मो को भगवान् में समर्पण करना और उनसे थोड़ा सा भी वियोग होने पर व्याकुल होना भक्ति है। वैदिक शास्त्रों में विस्तृत रूप में भक्ति की चर्चा है। जैन वाङ्मय में भक्ति के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है:—

(i) नियमसार (134) टीका तात्पर्यवृत्ति में — शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधना इत्यर्थः अर्थात् शुद्धरत्नत्रय के परिणामो का भजन भक्ति है जो आराधना रूपा है।

(ii) भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः — सर्वार्थसिद्धि 6/24/339/4 अर्थात् भावविशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है।

(iii) अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः — भगवती आराधना 47 पर टीका। अर्हत् आदि के गुणों में अनुराग को भक्ति कहते हैं।

मानतुङ्ग कह रहा है कि हे प्रभो! आपकी भक्ति, आपकी कृपा के कारण ही आपकी स्तुति करने का सामर्थ्य मुझे प्राप्त हुआ है।

एव पद का विमर्श

यहां एव पद अवधारणार्थक अव्यय है। एव अव्यय के तीन अर्थ है:—

(i) अयोग व्यवच्छेद (असम्बन्ध का निवारण) तथा भक्तिरेव मुखरीकुरूते। तात्पर्य है भक्ति में मुखर बनाने का असम्बन्ध नहीं है अर्थात् भक्ति में निश्चय ही मुखर बनाने का सामर्थ्य है।

(ii) अन्ययोगव्यवच्छेद (अन्य से सम्बन्ध का निवारण) भक्ति को छोड़कर अन्य किसी पदार्थ में वह सामर्थ्य नही है।

(iii) अत्यन्तायोगव्यवच्छेद (अत्यन्त असम्बन्ध का निवारण) भक्ति मे सामर्थ्य के अत्यन्त असम्बन्ध का निवारण अर्थात् भक्ति से सामर्थ्य ही उत्पन्न होता है।

कवि लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा भक्ति के सामर्थ्य का उद्घाटन कर रहा है — यत् कोकिल - निकरैकहेतुः।

अर्थात् जो कोयल मधु वसन्तकाल में मधुर कूजन करती है उसका एक मात्र कारण सुन्दर आम्रञ्जरियों का समूह ही है। यहां पर भक्ति–आम्रमञ्जरियों का समूह, भक्त–कोयल, एवं मुखर–कूजन में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

भक्तिरेवमुखरीकुरुते माम् — उपचार वक्रता का सुन्दर उदाहरण है। यहां पर मूर्त्त एवं द्रव्य पदार्थ के योग्य क्रिया का आरोपण अमूर्त्त एवं भाव पदार्थ पर किया गया है। विशेष देखें-भक्तामर संदोह पृ० 60 — 'उपचारवक्रता'।

त्वत्संस्तवेन भवसंतति-सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षय-मुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त-लोक-मलिनील-मशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।।7।।

अन्वय — त्वत्संस्तवेन शरीरभाजाम् भवसन्तति-सन्निबद्धम् अशेषम् पापम् आशु आक्रान्तलोकम् अलिनीलम् सूर्यांशुभिन्नम् शार्वरम् अन्धकारम् इव क्षणात् क्षयमुपैति।

अनुवाद — हे प्रभो! आपकी स्तुति से प्राणिमात्र के जन्म-जन्मान्तर के अर्जित सम्पूर्ण पापकर्म क्षणभर में समाप्त हो जाता है। जैसे — सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त, मधुकर समूह के समान नील (काला) कृष्ण पक्ष का अन्धकार सूर्य की किरणों के द्वारा विदारित होकर क्षणभर में शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

व्याख्या — जैसे घोर अन्धकार सूर्य की किरणो द्वारा विदारित होकर क्षणभर में समाप्त हो जाता है, उसका कहीं पता ठिकाना नहीं रहता उसी प्रकार प्रभु जिनेश्वर की स्तुति से शरीरधारियों के जन्म-जन्मान्तर से अर्जित सम्पूर्ण पाप क्षणभर में समाप्त हो जाते हैं। इस श्लोक मे स्तुति अथवा संस्तव के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

त्वत्संस्तवेन — आपकी स्तुति के द्वारा, आपके गुणोत्कीर्तन के द्वारा। त्वत्संस्तवेन — भवद्गुणोत्कीर्तनेन (गु. वि.) भवत्स्तवनेन (गुवृ) तवसंस्तवः त्वत्संस्तवः (प. त. पु) तेन — करण में तृतीया विभक्ति का

प्रयोग हुआ है। संस्तव का अर्थ गुणोत्कीर्तन है। कनककुशलगणि ने श्लोक 9 की व्याख्या मे लिखा है — स्तवनं स्तोत्रम् गुणरहस्योत्कीर्तनम् इति यावत्। विशेष द्रष्टव्य लेखककृत शोध निबन्ध — श्रीमज्जयाचार्य विरचित चौबीसी: एक अनुशीलन, तुलसी प्रज्ञा, Vol XX. 1994-95 पृष्ठ संख्या 95-106

शरीरभाजाम् — शरीरधारियों के, प्राणियों के। जन्मश्रेणिसंचितम् अतिबहुलमित्यर्थ: (मे. वृ.)

जन्मजन्मान्तर से सचित अर्थात् अतिबहुल। यहां पाप की बहुलता द्योतित है।

पापम् — अशुभ कर्म। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्-सर्वार्थसिद्धि 6 3 620 3' अर्थात् जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है जैसे असातावेदनीयादि। अनिष्ट पदार्थों की जिससे प्राप्ति होती है ऐसे भावों को, कर्मो को पाप कहते हैं।

अशेषम् — सम्पूर्ण, सकल।

क्षणात् क्षयमुपैति = क्षण भर में विनाश को प्राप्त हो जाता है।

आक्रान्तलोकम् = सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त

यह अन्धकार का विशेषण है। आक्रान्तो लोको येन तत् व्याप्तविश्वमित्यर्थ:।

अलिनीलम् — भ्रमर के समान नील

यहां भी अन्धकार के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। भौंर को उपमान बनाया गया है। उपमा अलंकार है।

शार्वरम् अन्धकारम् — रात्रिसम्भृत अन्धकार।

कृष्णपक्षरात्रिजं तिमिरम् (गुवि) शर्वर्यां भवं शार्वरमिति।

सूर्यांशुभिन्नम् — सूर्य की किरणों से विदारित। सहस्रकरार्चिर्भिर्विदारितम्।

आशु = शीघ्र।

संस्तव (भगवद्गुणोत्कीर्तन) से पाप का विनाश होता है, यह सर्वस्वीकृत तथ्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्तव का माहात्म्य निरूपित है —

थवथुईमंगलेणं भन्ते! जीवे किं जणयई? थवथुइमंगलेणं नाणदंसणचारित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसण चारित्तबोहिलाभ संपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ। (उत्तरायथन सूत्र 29 14)

अर्थात् भन्ते! स्तव एवं स्तुति रूप मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है। स्तव और स्तुति रूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चरित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञानदर्शन और चरित्र के बोधिलाभ से सम्पन्न व्यकित मोक्ष प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है। तात्पर्य यह है कि स्तोत्र से बोधिलाभ, उच्चगति की प्राप्ति तथा मोक्ष की लब्धि होती है। विशेष द्रष्टव्य — लेखक कृत श्रीमद् भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन पृ० 20-23 भक्तामरसंदोह पृ० 28 तथा प्रस्तुत ग्रंथ पृ० 111-117।

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुकताफल-द्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः।।८।।

अन्वय — इति मत्वा नाथ! तनुधिया अपि मया इदं तव संस्तवनम् आरभ्यते, तव प्रभावात् सताम् चेतः हरिष्यति, उदबिन्दुः नलिनीदलेषु ननु मुक्ताफलद्युतिम् उपैति।

अनुवाद — हे नाथ! (आपका संस्तवन सभी पापों का विनाशक है) इस प्रकार जानकर अल्प बुद्धिवाला होकर भी मैं आपका संस्तव कर रहा हूँ। (यह संस्तव) आपके प्रभाव से ही सज्जन पुरूषों के चित्त का हरण करेगा। जलबिन्दु कमलिणी के पत्तों पर निश्चय ही मोती की शोभा को प्राप्त करता है।

व्याख्या — इति मत्वा = इस प्रकार जानकर। यह पद पूर्व श्लोक से सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। तव संस्तवेन उपैति। अर्थात् आपकी

स्तुति से सभी पापों का विनाश होता है — यह जानकर। पूर्वोक्तयुक्त्वा स्तवकरणं दुष्करं सर्वपापहरं चेति मत्वा — अवबुध्य (गुवि) इति मत्वा — इदं ज्ञात्वा (मे वृ.)। दिवादिगणीय मनज्ञाने (द्रष्टव्य संस्कृत धातुकोष, पृ० 12) से क्त्वा प्रत्यय होकर मत्वा बना है। मत्वा = जानकर।

तनुधिया अपि मया = अल्पबुद्धि वाले मेरे द्वारा भी। तनुधिया = स्वल्पमतिना (गुवि), तनु = अल्प, कम, छोटा, पतला।

इदं तव संस्तवनम् — यह तुम्हारा संस्तवन।

संस्तवन = गुणों का गायन, प्रशंसा।

सस्तवनम् = गुणरहस्योत्कीर्तनम् (गुवि)

कारण के अभाव (बुद्धि का अभाव) होने पर कार्य निषत्ति प्रदर्शित है, इसलिए विभावना अलंकार है।

तव–हरिष्यति — आपके प्रभाव से मेरे द्वारा गाया गया यह सस्तवन निश्चय ही सज्जनो के चित्त का हरण करेगा। इस वाक्य में काव्य के उत्कृष्टगुण-आकर्षण और अधिकारी का निर्देश किया गया है। स्तुति-काव्य क्या है — जिसमें चित्तहरण का सामर्थ्य हो। किसका? सज्जनों का। सताम् पद से अधिकारी का कथन है। काव्यलिंग अलंकार।

दृष्टान्त के द्वारा इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं — ननु उद् बिन्दुः उपैति — जैसे जलकण कमल दल का आश्रय लेकर निश्चय ही मुक्ताफल की शोभा को प्राप्त कर लेता है। दृष्टान्त अलंकार।

सस्तवन — उदबिन्दु, प्रभुप्रभाव — कमलपत्र आदि में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

उदकस्य बिन्दुः उदबिन्दुः। उदक का उद आदेश हुआ है। मुक्ता एव फलम् मुक्ताफलम् तस्य द्युतिः मुक्ताफलद्युतिस्ताम्।

नलिन्या दलानि नलिनीदलानि तेषु नलिनीदलेषु, आधार में सप्तमी विभक्ति। बहुवचन का रूप।

उपैति = उप उपसर्ग पूर्वक इणगतौ धातु का रूप है। लट्लकार प्रथमपुरूष एक वचन।

उपैति = उपागच्छति (गुवृ) प्राप्नोति (मेवृ) उपगच्छति (कवृ)।

ननु — निश्चयार्थ बोधक अव्यय, निश्चय ही, अवश्य, निस्संदेह आदि अर्थोका प्रतिपादक। अन्यत्र पूछताछ, प्रश्न आदि में भी इसका प्रयोग होता है।

आस्तां तव स्तवनमस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्रकिरण: कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि।।9।।

अन्वय — तव अस्तसमस्तदोषम् स्तवनम् दूरे आस्ताम्, त्वत्संकथा अपि जगताम् दुरितानि हन्ति। सहस्त्रकिरण: दूरे (अस्ति तस्य) प्रभा एव पद्माकरेषु विकासभाञ्जि कुरूते।।

अनुवाद — हे प्रभो! समस्त दोषों से रहित तुम्हारा स्तवन तो दूर रहे, तुम्हारी कथाएं भी संसार के पापों का विनाश कर देती हैं। 'जैसे सहस्त्र किरण सूर्य तो दूर ही रहता है उसकी मात्र प्रभा ही सरोवरों में मुकुलरूप में स्थित कमलों को विकसित कर देती है।'

व्याख्या — तव अस्त समस्तदोषम् स्तवनम् = सम्पूर्ण दोषों से रहित आपका स्तवन। स्तवन की गुणवत्ता एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश पड रहा है। 'अस्तसमस्तदोपम्' स्तवनम् का विशेपण है। समस्ताश्च ते दोपाश्च समस्तदोपा: (कर्मधारय) आस्ता: समस्तदोपा येन तद् (वहु) अस्तसमस्तदोपम् निर्मुलित निखिल दूपणम् (क वृ), निरस्तसर्वदूपकम् (मे. वृ)।

स्तवनम् = गुणोत्कीर्तन। देखें पूर्व श्लोक। दूरे आस्ताम् — दूर ही रहे। दूरे तिप्ठतु (गुवि)। दूरे दूर स्थले तिप्ठतु, यहां पर स्तवन की महत्ता का

निरूपण है। संसार के पापो के विनाश के लिए आपके महान् स्तवन की आवश्यकता नही बल्कि आपकी कथा ही समस्त पापों के विनाश मे समर्थ है — त्वत्संकथापि जगताम् दुरितानि हन्ति — आपकी कथा भी संसारियो के सम्पूर्ण पापों का विनाश कर देती है।

तव संकथा त्वत्संकथा (व. पु.) त्वत्संम्बन्धी संलापोऽपि (गुवि, कवृ) त्वद्वार्ताऽपि (मेवृ)।

जगताम् — संसार के, जीवों के, लोगों के, जगताम् = लोकानाम्।

दुरितानि = पापानि विघ्नानि वा, हन्ति-निर्नाशयति-विनाशयति = विनष्ट कर देती है। इसमें कथा का महत्त्व प्रतिपादित है। भगवत्कथा, जिनेश्वर-विषयक चर्चा आदि का महत्त्व अप्रतिम है। भक्तिशास्त्रों मे, भागवतपुराण मे कथा का महत्त्व विशद रूप से वर्णित है। भक्तिमती गोपियां कहती हैं—

तव कथामृत तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।

भा. पु 10.31.9

प्रभो! तुम्हारी लीला कथा अमृत स्वरूप है, विरह से सताए लोगों के लिए वह जीवनसर्वस्व है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं-भक्तकवियों ने उसका गान किया है। वह सारे पाप-ताप को तो मिटाती ही है। साथ ही श्रवणमात्र से परममङ्गल का दान करती है। वह परम सुन्दर, परममधुर तथा परमविस्तृत है। जो तुम्हारी लीला कथा का गायन करते हैं, वास्तव में वे ही सबसे बड़े दानी हैं।

शुकदेव कहते हैं —

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम्।

पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरण सरोरुहान्तिकम्।।

भा. पु. 2 2 37

अर्थात् संतपुरुष आत्मस्वरूप भगवान् की कथा का मधुर अमृत बांटते ही रहते हैं, जो अपने कान के दोनो (पुट) में भरभर कर उनका पान करते हैं, उनके हृदय से विषयों का विषैला प्रभाव जाता रहता है, शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्री कृष्ण के चरण कमलों की सन्निधि प्राप्त कर लेते हैं।

सहस्रकिरणः – कुरुते। सूर्य तो दूर ही रहता है उसकी मात्र प्रभा ही कमलों को विकसित कर देती है।

सहस्रकिरणः = सूर्य। सहस्रं किरणा यस्य स (बहु०) हजारों जिसकी किरणें हैं वह अर्थात् सूर्य।

जलजानि = मुकुलरूपकमलानि, जले जायन्त इति जलजानि (त. पु), मुकुलरूप कमल।

विकासभाञ्जि–विकाशं भजन्त इति विकासभाञ्जि तानि (त. पु.) = खीला हुआ, हंसता–हुआ, कुरूते = कर देती है।

विकासभाञ्जिकुरूते — स्मेराणि कुरुते, विकस्वराणि कुरुते (मेवृ)। जैसे सूर्योदय के पूर्व ही निकलने वाली प्रभातकालीन प्रभा ही कमलों को विकसित कर देती है, सूर्य तो तब तक दूर ही रहता है, उसी प्रकार प्रभु की कथा ही पापों का विनाश कर देती है। तब तक स्तवन तो दूर ही रहता है। यानि प्रभु स्मरण मात्र से ही जीव–जगत् के अखिल पाप–ताप समाप्त हो जाते हैं। स्मरण से जिनेश्वर देव या प्रभु का हृदय में आविर्भाव हो जाता है, भक्त का हृदय उनका निवास बन जाता है, तब उनके आते ही भला पापादि कैसे ठहर सकते हैं। सभी दोषो का क्षय हो जाता है। भागवतकार कहते हैं —

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसंभवान्।
सर्वान्हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः।।

भा पु 12 3 45

प्रभैव = प्रभा एव। यहां एव अवधारणार्थक है। अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थ व्यञ्जित है। कथा से पाप का विनाश होता है — कारण-कार्य भाव होने से काव्यलिङ्ग एवं अस्तसमस्त दोषम् — में अनुप्रास अलंकार है।

पद्माकरेषु — सरोवरों में। पद्मानामाकरो येषु ते पद्माकरास्तेषु (बहु.)

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैः गुणैः भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति?॥10॥

अन्वय — भुवनभूषण! भूतनाथ! भूतैः गुणैः भवन्तम् अभिष्टुवन्तः भुवि भवतः तुल्याः भवन्ति अति अद्भुतम् न। वा ननु तेन किम् य इह आश्रितम् भूत्या आत्मसमम् न करोति।

अनुवाद — हे जगत् के भूषण! जीवों के स्वामी! (संसार मे) विद्यमान (समीचीन) गुणो के द्वारा आपकी स्तुति करते हुए धरती पर लोग आपके समान हो जाते है — इसमें अति आश्चर्य नही है। अथवा निश्चय ही उस स्वामी से क्या लाभ? जो इस लोक मे अपने आश्रित (सेवक) को ऋद्धि प्रदान करके अपने समान नही बना देता है।

व्याख्या — भुवनभूषण - संसार का अलंकार, संसार की शोभा, जगत् का भूषण। यह भगवान् ऋषभ का विशेषण है। भुवनानां भूषणम् भुवनभूषणम् तत्सम्बोधने भुवनभूषण।

भूतनाथ - जीवों के स्वामी! भूतानां नाथः भूतनाथः तत्सम्बोधने भूतनाथ। यह भी भगवान् का विशेषण है।

भूत - जीव, प्राणी।

[illegible]

भुवनभूषणभूत को एक पद तथा नाथ को एक पद मानते हैं। भूत शब्द को सादृश्य या इव का वाचक माना है — विश्व के मण्डन के समान! स्वामी!

हे भुवनभूषणभूत! हे विश्वमण्डन समान (गुवि.)।

कनक कुशलगणि ने भी इस ओर निर्देश किया है। भुवनभूषणभूत-भूत शब्द उपमान वाचकः हे विश्वमण्डनसमान! भुवनस्य भूषणं भुवनभूषणं (त.पु.) भुवनभूषणसमान भुवनभूषणभूतस्तस्य सम्बोधने।

भुतैः गुणैः = विद्यमान गुणों के द्वारा।

भुवि = पृथिवी पर। पृथिव्याम्। पृथिवी पर विद्यमान गुणों के द्वारा आपकी स्तुति करते हुए लोग आपके सदृश हो जाते हैं।

न अत्यद्भुतम् = यह अत्यन्त आश्चर्य नहीं है। अतिशयेनाद्भूतमत्यद्भुतम् (त. पु.)।

इसमें भुवनभूषण और भूतनाथ आदि साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकर अंलकार है। आपकी स्तुति करते हुए आपके तुल्य हो जाते हैं — कारण-कार्य द्योतित होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।

प्रभु के समर्थ गुणों के गायन से व्यक्ति (भक्त) प्रभु के समान हो जाता है — यह तथ्य सूचित हो रहा है। यहां नाममाहात्म्य अथवा नामजप या गुणोत्कीर्तन का महत्त्व वर्णित है। भागवतपुराण में ऋषि शौनक नाम माहात्म्य निरूपित करते हुए कहते हैं —

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नामविवशो-गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयंभयम्।।

भा. पु. 1 1 14

घोर संसार में पड़ा हुआ जीव विवशता वश भी प्रभु नामस्मरण या नाम कीर्तन करता है तो वह सद्यः मुक्त हो जाता है और उससे स्वयं भय भी भयभीत होने लगता है।

अजामिल की कथा प्रसिद्ध है। घोर पापी होते हुए भी नारायण नामोच्चारण मात्र से ही वह मुक्त हो गया था। भागवतकार कहते हैं —

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमूमुचत्।।
(भा पु 6 3 23)

दृष्ट्वा भवन्त-मनिमेष-विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेःरसितुं क इच्छेत्।।11।।

अन्वय — अनिमेषविलोकनीयम् भवन्तम् दृष्ट्वा जनस्य चक्षुः अन्यत्र तोषं न उपयाति। दुग्धसिन्धोः शशिकरद्युति पयः पीत्वा कः जलनिधेः क्षारं जलं रसितुं इच्छेत्?

अनुवाद — निर्निमेष नयनों से देखने योग्य आपको देखकर मनुष्यो के नेत्र अन्यत्र (किसी अन्य रूप में) संतोष नही प्राप्त करते है। क्षीरसागर के चन्द्रमा के समान उज्जवल जल को पीकर कौन ऐसा है जो (सामान्य) समुद्र के खारे जल को पीने की इच्छा करता है?

व्याख्या — अनिमेषविलोकनीयम् = निर्निमेष रूप मे देखने योग्य। यह 'भवन्तम्' का विशेषण है।

न निमेषेण विलोक्यते दृश्यते इति अनिमेष-विलोकनीयस्तम् (न पु)।

भवन्तम् - आपको। प्रभु जिनेश्वर को, जनस्य — न उपयाति — एक बार जिसने आपको देख लिया उसकी आँखें आपकी हो हो गयीं। वे आँखें अब अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहती हैं। कहीं न संतुष्ट होंगी। इन्द्रियों की [illegible] हो जाए।

[illegible]
[illegible]

भुवनभूषणभूत को एक पद तथा नाथ को एक पद मानते हैं। भूत शब्द को सादृश्य या इव का वाचक माना है — विश्व के मण्डन के समान! स्वामी!

हे भुवनभूषणभूत! हे विश्वमण्डन समान (गुवि.)।

कनक कुशलगणि ने भी इस ओर निर्देश किया है। भुवनभूषणभूत-भूत शब्द उपमान वाचकः हे विश्वमण्डनसमान! भुवनस्य भूषणं भुवनभूषणं (त.पु.) भुवनभूषणसमान भुवनभूषणभूतस्तस्य सम्बोधने।

भुतैः गुणैः = विद्यमान गुणों के द्वारा।

भुवि = पृथिवी पर। पृथिव्याम्। पृथिवी पर विद्यमान गुणों के द्वारा आपकी स्तुति करते हुए लोग आपके सदृश हो जाते हैं।

न अत्यद्भुतम् = यह अत्यन्त आश्चर्य नहीं है। अतिशयेनाद्भूतमत्यद्भुतम् (त. पु.)।

इसमें भुवनभूषण और भूतनाथ आदि साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकर अंलकार है। आपकी स्तुति करते हुए आपके तुल्य हो जाते हैं — कारण-कार्य द्योतित होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।

प्रभु के समर्थ गुणों के गायन से व्यकित (भक्त) प्रभु के समान हो जाता है — यह तथ्य सूचित हो रहा है। यहां नाममाहात्म्य अथवा नामजप या गुणोत्कीर्तन का महत्त्व वर्णित है। भागवतपुराण में ऋषि शौनक नाम माहात्म्य निरूपित करते हुए कहते हैं —

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नामविवशो-गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयंभयम्।।

भा पु 1 1 14

घोर संसार में पड़ा हुआ जीव विवशता वश भी प्रभु नामस्मरण या नाम कीर्तन करता है तो वह सद्यः मुक्त हो जाता है और उससे स्वयं भय भी भयभीत होने लगता है।

अजामिल की कथा प्रसिद्ध है। घोर पापी होते हुए भी नारायण नामोच्चारण मात्र से ही वह मुक्त हो गया था। भागवतकार कहते हैं —

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमूमुचत्।।

(भा.पु. 6 3 23)

दृष्ट्वा भवन्त-मनिमेष-विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेःरसितुं क इच्छेत्।।11।।

अन्वय — अनिमेषविलोकनीयम् भवन्तम् दृष्ट्वा जनस्य चक्षुः अन्यत्र तोषं न उपयाति। दुग्धसिन्धोः शशिकरद्युति पयः पीत्वा कः जलनिधेः क्षारं जलं रसितुं इच्छेत्?

अनुवाद — निर्निमेष नयनों से देखने योग्य आपको देखकर मनुष्यो के नेत्र अन्यत्र (किसी अन्य रूप में) संतोष नहीं प्राप्त करते हैं। क्षीरसागर के चन्द्रमा के समान उज्जवल जल को पीकर कौन ऐसा है जो (सामान्य) समुद्र के खारे जल को पीने की इच्छा करता है?

व्याख्या — अनिमेषविलोकनीयम् = निर्निमेष रूप से देखने योग्य। यह 'भवन्तम्' का विशेषण है।

न निमेषेण विलोक्यते दृश्यते इति अनिमेष-विलोकनीयस्तम् (त.पु.)।

भवन्तम् = आपको। प्रभु जिनेश्वर को, जनस्य — न उपयाति — एक बार जिसने आपको देख लिया उसकी आंखें आपकी ही हो गयी। वे आंखे अब अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहती हैं। यही है सौन्दर्य बोध। जहां इन्द्रियों की चंचलता समाप्त हो जाए।

अर्थान्तरन्यास के द्वारा प्रथम वाक्य का समर्थन कर रहे हैं — दुग्धसिन्धोः, क्षीरसमुद्र के। शशिकरद्युति पयः पीत्वा — चन्द्रमा की किरणों

के समान कांति से युक्त (उज्ज्वल) जल को पीकर कौन खारे समुद्र का पानी पीना चाहेगा — अर्थात् कोई नहीं। पयः = जल।

रसितुम् = स्वादितुम्-पातुम्

कः इच्छेत् = कौन इच्छा करता है? अर्थात् कोई नहीं। इसमें प्रथम द्विपादी का अंतिम द्विपादी के द्वारा समर्थन किया गया है। इसलिए अर्थान्तरन्यास तथा 'कः इच्छेत्' में कैमुतिक न्याय से अर्थापति अलंकार है। जलं जलनिधेः में अनुप्रास है।

पूर्व श्लोक में भगवत्कथा की महिमा गायी गई है — 'त्वत्संकथापि दुरितानि हन्ति'। इस श्लोक में भगवद्दर्शन के महत्त्व का उद्‌घाटन किया गया है। एक बार उस परम प्रभु का जिसने दर्शन कर लिया, उसकी इन्द्रियां सदा-सदा के लिए विरमित हो गयी। दर्शन माहात्म्य को प्रतिपादित करने वाला एक श्लोक प्रसिद्ध है:—

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पाप नाशनम्।
दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम्।।

देवाधिदेव जिनेश्वर देव का दर्शन करने योग्य है। उनका दर्शन पाप विनाशक, स्वर्ग का सोपान तथा मोक्ष का साधन है।

कुन्ती कहती है —

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्।।

भा पु 1825

अर्थात् हे प्रभो! आपका दर्शन जन्म-मृत्यु के चककर को विनष्ट कर देता है।

जिस किसी ने अपनी सौभाग्यवान् नेत्रों से उस परम प्रभु का दर्शन किया वह कृत्पुण्य हो गया। धन्यधन्य हो गया। गोपियां कहती हैं —

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।।

अर्थात् त्रैलोक्य सुन्दर आपके रूप को देखकर गौ, पक्षी और वृक्ष भी पुलकित हो रहे हैं। नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः यह उपचारवक्रता का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण भक्तामर में मिलते है।। द्रष्टव्य लेखक कृत 'भक्तामर-संदोह' पृ० 60-63।

प्रथम बार में ही सब कुछ उसी का हो जाता है। आंख कान आदि इद्रियां मन शरीर सब उसी का हो जाता है। कृष्ण के कहने पर कि हे गोपियां तुम लोग घर चली जाओ तो वे कहती हैं —

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं ब्रजमथो करवाम किं वा।।

भा. पु. 10 29 39

अर्थात् हमारे पैर आपके पादमूल को छोड़कर एक पद भी नहीं चलना चाहते हैं। हम ब्रज कैसे जाएं? क्या करें?

यैः शान्तराग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति।।12।।

अन्वय — त्रिभुवनैकललामभूत! शान्तराग रुचिभि: यैः परमाणुभि: त्वम् निर्मापित: ते अणवः अपि खलु तावन्त एव। यत् पृथिव्याम् ते समानम् अपरम् रूपम् नहि अस्ति।

अनुवाद — हे तीनों लोकों में एक मात्र ललामभूत (अलंकार स्वरूप)! आप शान्तभाव की कान्ति से युकत जिन परमाणुओं के द्वारा बनाये गए हैं, वे परमाणु भी उतने ही थे क्योंकि संसार में आपके समान दूसरा कोई रूप नहीं है।

व्याख्या — त्रिभुवनैकललामभूत = तीनों लोकों में अद्वितीय ललामभूत (तिलकोपम)। जगत्त्रितयाद्वितीयतिलकोपम! (कवृ) त्रिलोकाग्र्यशिरोग्रवर्तिमाल्यतुल्य (गुवि)।

त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् (द्विगु) एकञ्च तल्ललाम चैकललाम (कर्म०) त्रिभुवने एक ललाम त्रिभुवनैक ललाम (त.पु.) त्रिभुवनैक ललाम इव त्रिभुवनैकललामभूतः तत्सम्बोधने त्रिभुवनैकललामभूत।

ललाम = सुन्दर, प्रिय, कोई भी श्रेष्ठ वस्तु, मस्तक का आभूषण, मनोहर।

भूत शब्द यहा इवार्थवाचक है। एव शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित हो रहा है कि आपही मात्र त्रिभुवन के विभूषण स्वरूप है, अन्य कोई नहीं अर्थात् आपके सदृश कोई नहीं है।

शान्तरागरुचिभिः — यह परमाणुभिः का विशेषण है। शान्तश्चासौ रागश्च शान्तरागः (कर्म) शान्तरागस्य रुचिर्येषु ते शान्तरागरुचयस्तैः शान्तरागरुचिभिः उपशमरसनिष्पन्नैरित्यर्थः अर्थात् उपशमरस से पूर्ण या उपशम रस की कान्ति से युकत। परमाश्च अणवश्च परमाणवस्तै परमाणुभिः (कर्म), परमाणुओं के द्वारा आप बनाए गए हैं या आपका शरीर बनाया गया है — निर्मापितस्त्वम् = कृतस्त्वम् (गुवृ) सम्पादितः (मे. वृ.) निष्पादितः (कवृ.)।

ते अणव अपि खलु तावन्त एव = वे अणु भी उतने ही थे जितने में आपका निर्माण हुआ। अपि = भी, खलु = निश्चित ही। तात्पर्य है कि संसार में जितने सुन्दर परमाणु थे, उनको इकट्ठा करके शरीर का निर्माण हुआ। शरीर-निर्माण में जितनी मात्रा की आवश्यकता थी उतनी ही मात्रा मे वे परमाणु थे। इसीलिए आपके रूप = सौन्दर्य के समान अन्य कोई रूप नहीं है, आपका रूप अप्रतिम है — 'यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति' — ये सुन्दर परमाणु आपके निर्माण भर ही थे अधिक नहीं — क्योंकि आपके जैसा कोई और होता लेकिन आपके जैसा तो स्वयं आप ही हैं।

यही भक्ति की भूमिका है, प्रेम की धरती है। यदि प्रियतम से, प्रभु से कोई और श्रेष्ठ या सुन्दर मिल जाय तो यह भक्ति नहीं व्यभिचार हो जायेगा। अन्य स्तोत्रों एवं काव्यों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अपने उपास्य की श्रेष्ठता का ज्ञान भक्त को अवश्य ही होता है। पितामह भीष्म का प्रभु, प्रियतम त्रिभुवन-सुन्दर है —

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकर गौरवाम्बरं दधाने।
वपुरलक कुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।।

भा. पु. 1 9 33

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्र-हारि,
निःशेष-निर्जित-जगत्-त्रितयोपमानम्,
बिम्बं कलंक-मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद् वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्।।13।।

अन्वय — (प्रभो!) सुरनरोरगनेत्रहारि निःशेषनिर्जित-जगत् — त्रितयोपमानम् ते वक्त्रं क्व? निशाकरस्य कलङ्कमलिनम् बिम्बम् क्व? यद् वासरे पाण्डुपलाशकल्पम् (भवति)।

अनुवाद — हे प्रभो! देव, मनुष्य तथा नागों के क्षेत्र को हरण करने वाला और तीनों लोकों के (सौन्दर्य विषयक) सम्पूर्ण उपमानों को निर्जित करने वाला कहां तुम्हारा मुख और कहां चन्द्रमा का कलंकमलिन बिम्ब? जो दिन में पाण्डु (जीर्ण एवं पकव) पत्ते के समान हो जाता है (विवर्ण हो जाता है)।

व्याख्या — इस श्लोक में प्रभु की मुख शोभा वर्णित है। मुख इतना सुन्दर है कि इसके सामने सभी सौन्दर्य विषयक उपमान ह्रस्व हो गए हैं। यहां सौन्दर्य खनि चंद्रमा भी उनके मुख के सामने विवर्ण हो गया है।

व्यतिरेक और उदात्त अलंकार के माध्यम से प्रभु के अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। कालिदास ने पार्वती के रूप का वर्णन करते हुए लिखा है :–

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ सौन्दर्य दिदृक्षयेव।।

कुमार संभव 1 49

सकल जगत् का निर्माण करने वाले ब्रह्मा ने मानो एक ही स्थान में सकल सौन्दर्य को देखने की इच्छा से खोज–खोजकर चन्द्र, कमल, तिलकुसुम आदि वस्तुओं का यथायोग्य विनिवेशित कर पार्वती की रचना की थी।

सुरनरोरगनेत्रहारि – देव मनुष्य और नागों के नेत्र को हरण करने वाला। यह भगवान् ऋषभ के मुख का विशेषण है। आनुप्रासिक शब्द सुषमा के द्वारा त्रैलोक्य सौभग रूप का उद्घाटन किया गया है। ऐसा सुन्दर रूप जिसे देखकर सम्पूर्ण जगत् की आंखें अपनी यात्रा से विरमित हो जाती है। वह रूप क्या जिसे देख लेने के बाद आंखें अन्यत्र देखने का व्यापार सदा सर्वदा के लिए छोड़ न दे। यहां रूप की अतिशयता एवं उसमें विद्यमान आकर्षण गुण की अभिव्यंजना हो रही है। सुरा — वैमानिका:, नरा–मानवा: उरगा भवनवासिन: तेषां नेत्राणि लोचनानि तानि (तेषां) हारि–रञ्जनशीलम् (कवृ) सुरनरोरगाणां नेत्राणि हर्तु शीलमस्येति विग्रह: (गुवृ)। उरसा गच्छन्तीति उरगा: (त. पु.) सुराश्च नराश्चोरगाश्च सुरनरोरगा: (द्वन्द्व), सुरनरोरगाणां नेत्राणि (तत्पुरुष) सुरनरोरगनेत्राणि हरतिएवंशीलं सुरनरोरगनेत्रहारि (त. पु.)।

उरग = उरसा गच्छति अर्थात् जो उर से, वक्ष: स्थल से चलते हैं उन्हे उरग कहते हैं। सर्प, सांप, नाग आदि अर्थ है। पुराणों में मानवीय मुख वाले दिव्य सर्पो का उल्लेख मिलता है। उरग का अर्थ दिव्य सर्प किया जा सकता है। नलचरित की पंक्ति दृष्टव्य है — देव गन्धर्वमानुपोरगराक्षसान् (नल 1 28)। जैनवाङ्मय मे भवनवासी देवों की एक जाति के रूप में नागकुमार का उल्लेख मिलता है — फण से उपलक्षित भवनवासीदेव नाग कहलाते हैं — फणोपलक्षिता: नागा: (धवला 13 5 5 140 391 7) टीकाकारों ने भी उरग का

अर्थ नागकुमार देव किया है — उरगा — भवनवासिन: (गुवृ, कवृ) सुरनरोरग में अनुप्रास अलंकार है।

नि:शेष निर्जित — त्रितयोपमानम् — तीनों लोकों के सम्पूर्ण सौन्दर्यविषयक उपमानों — कमल, चन्द्रमा आदि को जिसने तिरस्कृत कर दिया है। यह भी पूर्व जैसा ही प्रभु के मुख का विशेषण है। प्रभु का मुख इतना सुन्दर है कि उसके सामने तीनों लोकों के सौन्दर्यविषयक उपमान ह्रस्व हो गये, छोटे पड़ गये। यहां व्यतिरेक अलंकार है। उपमान से उपमेय की अधिक गुणवत्ता प्रतिपादित है। 'उपमानाद्यन्यस्य' व्यतिरेक: स एव स: — (काव्यप्रकाश 10 159) अर्थात् जहां पर उपमान से उपमेय का आधिक्य सूचित हो वहां व्यतिरेकालंकार होता है। प्रभु का मुख उपमेय है जो कमल चन्द्रादि सम्पूर्ण सौन्दर्य विषयक उपमानों से श्रेष्ठ है।

उपमान — जिससे उपमेय की उपमा दी जाए तुलना की जाए, उसे उपमान कहते हैं। सामान्य रूप से उपमेय कम गुण वाला होता है क्योंकि उपमेय में उपमान द्वारा गुणाधान होता है। उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्ट गुणेनान्यत् तदुपमानम्। विश्व के सबसे प्राचीन भाषा वैज्ञानिक महर्षि यास्क ने लिखा है — ज्यायसा वा गुणेन प्रख्यात तमेन वा-निरुक्त।

ते वक्त्रं क्व? निशाकरस्य कलंकमलिनं बिम्बं क्व? अर्थात् उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट कहां तुम्हारा मुख और कहां चन्द्रमा का कलंकमलिन बिम्ब। यहां पर मुख का सौन्दर्यातिरेक अभिव्यंजित है। दो बार 'क्व' शब्द का प्रयोग महान् अन्तर को सूचित करता है। एक ही वाक्य में क्व.... क्व शब्द का अर्थ 'भारी अन्तर' एवं 'महान् असंगति' है। कालिदास ने ऐसा प्रभूत प्रयोग किया है — 'क्व सूर्य प्रभवो वंश: क्व चाल्प विषया मति: (रघु. 1-2)' द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयत: (रघुवंश 1-2 पर मल्लिनाथ टीका) भक्तामर के टीकाकार ने भी इस ओर निर्देश दिया है — द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयत (मे. वृ.) तात्पर्य है कि जो लोग आपके मुख की उपमा चन्द्रमा से देते हैं उसमें मैं महान् अन्तर देख रहा हूँ। कहां त्रैलोक्य सौभग मुख और कहां मलिन चन्द्रमा। दोनों में साम्य की कोई सम्भावना ही नहीं है। इस तथ्य को

यद् वासरे पाण्डुपलाशकल्पम् — क्योंकि दिन में वह चन्द्रमा जीर्ण एवं पीले वर्ण के पत्ते के समान शोभा हीन हो जाता है। अर्थान्तरन्यास अलंकार है। भगवान् का मुख त्रिकाल सुन्दर है लेकिन चन्द्रमा दिवस में श्रीहीन हो जाता है। शोभारहित हो जाता है, उसको प्रभु के मुख के लिए उपमान के रूप में नहीं रखा जा सकता है। पाण्डुपलाशकल्पम् — जीर्णपकवपाण्डुरवर्णसवर्ण भवति (गुवि) जीर्णपत्रतुल्यम् (मेवृ) जीर्ण पक्वं पाण्डुरवर्ण–पत्र सदृशम् भवतीति (क.वृ.)।

पाण्डुचतत् पलाशं च (कर्मधारय) पाण्डुपलाशस्य कल्पम् (कवृ)।

पलाश — एक वृक्ष, ढाक का पेड़ पत्ता, पंखड़ी। प्रस्तुत संदर्भ में पत्ता अर्थ है। टीकाकारों का भी यही अभिमत है। पलाशम् — पत्रम् (हलायुधकोश) पलं गतिं कम्पनमित्यर्थ पलं अश्नुते व्याप्नोतीति अर्थात् पल का अर्थ गति है और जो गति को व्याप्त करे, गतियुक्त हो चंचल हो उसे पलाश–पत्र कहते हैं। पत्ते चंचल होते हैं — यह प्रसिद्ध है। पल उपपद पूर्वक अशूङ् (अश्) व्याप्तौ संघाते च' धातु से कर्मण्यण् (पा. 3 2 1) से अण् होकर नपुंसक लिंग में पलाशम् बनता है।

कल्पम् — यह शब्द संज्ञा और विशेषण के अन्त में जुडकर हीनता की अवस्था और समानता को सूचित करता है। यहां पर समानता अर्थ है। टीकाकारों ने कल्पम् का सवर्णम् (गुवि.) तुल्यम् (मेवि) सदृशम् (कवृ.) आदि अर्थ किया है।

सम्पूर्ण–मण्डल–शशांक–कला–कलाप
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयंति।
ये संश्रिता स्त्रिजगदीश्वर! नाथमेकं,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।14।।

अन्वय — त्रिजगदीश्वर! सम्पूर्ण मंण्डलशशांक कला कलापशुभ्राः

तव गुणाः त्रिभुवनम् लंघयंति। ये एकम् नाथम् संश्रिताः यथेष्टम् संचरतः तान् कः निवारयति?

अनुवाद — हे तीनों लोकों के स्वामी! संपूर्ण मंडल से युक्त चंन्द्रमा की कला-समूह के समान शुभ्र (कान्तिमान्) तुम्हारे गुण तीनों लोकों का उल्लंघन करते हैं। अर्थात् तीनो लोकों में श्रेष्ठ हैं, (व्याप्त हैं)। जिन्होंने आप जैसे अद्वितीय स्वामी का आश्रय लिया है, उन्हें इच्छानुरूप भ्रमण करने से कौन रोक सकता है।

व्याख्या — विवेच्य श्लोक में स्तव्य की श्रेष्ठता तथा शरणागति भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अनुप्रास, काव्यलिंग, उदात्त व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास, संकर, संसृष्टि आदि अलंकार माधुर्य तथा प्रसादादि गुण अत्यन्त संरम्भ के साथ उपस्थित हैं।

त्रिजगदीश्वर — तीनों लोकों के स्वामी। त्रिजगन्नाथ (गुवि), त्रिभुवन स्वामिन् (कवृ), त्रिभुवननाथ (कवृ)। त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् (द्विगु) त्रिजगतः ईश्वरः त्रिजगदीश्वरः तत्संबोधनम् त्रिजगदीश्वर (तत्पुरुष) इस पद के द्वारा सूचित है कि उपास्य या स्तव्य कोई सामान्य पुरुष नहीं होता बल्कि वह सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ एवं सर्वश्रेष्ठ होता है। विशेष द्रष्टव्य— लेखक कृत भक्तामर संदोह — पृ० 19-23

सम्पूर्णमण्डलशशांक कलाकलापशुभ्रा — पूर्ण मण्डल — आश्विन पूर्णिमा के चन्द्रमा के किरण समूह के समान धवल। यह भगवान् के गुणों का विशेषण है। तब गुणाः = तुम्हारे गुण। उपमा अलंकार। भगवान् के गुणों की उपमा पूर्ण चन्द्रमा के धवल किरण-समूह से दी गई है।

ये एकम् नाथम् संश्रिताः — जिसने एकमात्र नाथ का, अद्वितीय स्वामी का आश्रय ले लिया है। एक = अद्वितीय, असाधारण। नाथ = स्वामी। इसमें भी प्रभु की उत्कृष्टता अभिव्यंजित है। आश्विनपूर्णिमा सम्बन्धी शशाङ्कः (बहु) सम्पूर्णमण्डलश्चासौ शशाङ्कश्च सम्पूर्णमण्डलशशाङ्कः (कर्मधारय) कलानां कलापः कलाकलापः सम्पूर्ण मण्डलशशाङ्कस्यकलाकलापः सम्पूर्णमण्डलशशाङ्क कलाकलापः (तत्पुरुष) तद्वत् शुभ्रा।

कलाप = समूह, निकर, शुभ्र = धवल।

इस सामासिक पद में प्रभु गुणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उदात्त तथा पूर्णचन्द्र है, इसलिए किरणसमूह धवल है – काव्यलिंग, कलाकलाप–छेकानुप्रास, चन्द्रकिरण के समान शुभ्रगुण – उपमा आदि अनेक अलंकारों का सहज विन्यास हो गया है।

त्रिभुवनम् लंघयन्ति – त्रिभुवन को उलंघित करते हैं। अर्थात् तीनों लोकों में व्याप्त है।

य एकं नाथं संश्रिता – जो लोग अद्वितीय स्वामी के शरण ले लेते हैं। आपकी शरणागति ग्रहण कर लेते हैं।

कः तान् निवारयति = इच्छानुसार भ्रमण करते हुए उन्हें कौन रोक सकता है। अर्थात् जो कोई भी तुम्हारी शरणागति कर लेता है वह सर्वसमर्थ हो जाता है, उसकी गति को, उसके पद न्यास को कौन रोक सकता है। अर्थात् कोई नहीं?

इस पद में अर्थापत्ति अलंकार के द्वारा शरणागति भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित है। प्रभु शरणागति से भक्त सब कुछ पा लेता है। तात्पर्य है कि प्रभु शरण में उपस्थित भक्त को जिनेश्वर चरणदास को शारीरिक, मानसिक, भौतिक, दिव्य (देवप्रदत्त) आदि किसी प्रकार के कष्ट बाधित नहीं कर सकते हैं। ऋषि व्यास कहते हैं कि जिसने प्रभु शरणागति प्राप्त कर ली उन्हें त्रैलोक्यजेता मृत्यु भी बाधित नहीं कर सकता –

यत्र निविष्टमरणं कृतान्तोनाभिमन्यते।
विश्वं विध्वंसयन् वीर्यशौर्य विस्फूर्जितभ्रुवा।।

(भा पु. 4 24 56)

अर्थात् काल (यमराज) अपने अदम्य उत्साह और पराक्रम से फडकती हुई भौंहो के इशारे से सारे संसार का संहार कर डालता है, वह भी प्रभु के शरण में गए हुए भक्त पर अधिकार नहीं मानता है।

कस्तान्० – उन्हें कौन रोक सकता है? अर्थात्

कोई नहीं – अर्थापत्ति अलंकार है।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि
र्नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि शिखरं चलितं कदाचित्?।।15।।

अन्वय — यदि ते मनः त्रिदशाङ्गनाभिः मनाक् अपि विकारमार्गम् न नीतम् अत्र किम् चित्रम्। चलिताचलेन कल्पान्तकालमरुता किम् मन्दराद्रि-शिखरम् कदाचित् चलितम् ?

अनुवाद — हे प्रभो! यदि आपका मन देवयुवतियों के द्वारा तनिक भी विकृत नहीं किया जा सका, इसमें आश्चर्य क्या है? पर्वतों को चंचल कर देने वाला प्रलयकालीन पवन क्या मन्दर-पर्वत को चंचल कर सकता है?

व्याख्या — इसमें स्तव्य की ब्रह्मचर्य-निष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। स्तव्य वहीं हो सकता है जो ब्रह्मनिष्ठ हो अर्थात् अक्षोभ्य ब्रह्मचर्य रूप सम्पत्ति का चक्रवर्ती सम्राट् हो। लाख काम-वासना रूप परीसहों के, स्त्री रूप साधनान्तराय के उपस्थित होने पर भी स्तव्य तिलमात्र भी क्षुभित नहीं होता है। वह मन्दर पर्वत के समान स्थिर रहता है। जैसे अनेक पर्वतों को चंचल कर देने वाला, उखाड़ देने वाला प्रलयकालीन पवन मन्दरपर्वत पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकता है, संसार को हिला देने वाला काम या उसकी प्रतिनिधि देवाङ्गनाएं संसार के प्रत्येक जीव को तो परेशान कर देती हैं, परन्तु योगेश्वर जिनेन्द्र भगवान् पर तनिक भी प्रभाव नहीं डाल सकती। यहां प्रभु ऋषभ देव एवं मन्दर पर्वत, सामान्य जीव और सामान्य पर्वत, स्त्रियां (काम) एवं प्रलयकालीन पवन आदि में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। इसलिए दृष्टान्त अलंकार है। यदि — चित्रम् - हे प्रभु! यदि देवयुवतियों के द्वारा आपका मन तनिक भी विकृत नहीं किया जा सका इसमें आश्चर्य क्या है? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है। अर्थापत्ति अलंकार।

त्रिदशांगनाभिः — देवयुवतियों के द्वारा। ऐसी प्रसिद्धि है कि

मनुष्ययुवतियों की अपेक्षा देवयुवतियां अत्यधिक सुन्दर एवं आकर्षक होती हैं। देवयुवतियां जिन्हें अप्सरा भी कहते हैं — उनसे बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी विकार को प्राप्त हो गए लेकिन भगवान् ऋषभ पूर्ण ब्रह्मचारी थे। उनका मन तनिक भी विचलित होना चाहिए लेकिन कारण — देवयुवतियों के होने पर भी कार्य मन विचलन नहीं हो सका इसलिए विशेषोक्ति अलंकार है। मानसिक शांति रूप कार्य है लेकिन देवयुवतियों का अभाव रूप कारण नहीं है। कारण के नहीं होने पर कार्य का हो जाना विभावना अलंकार है। त्रिदशाङ्गनाभिः = देववधूभिः (मेवृ) त्रिदशानामङ्गनाभिः (तत्पुरूष)।

मनागपि = थोड़ा भी। मनाक् = अल्प।

अल्पमात्रमपि (कवृ.) मनाक् और अपि अव्यय पद हैं।

विकारमार्गम् = कामोत्पथ मार्ग को। विकारस्य मार्गो विकारमार्गस्तं (त.पु.)।

चलिताचलेन — चलितम् — पर्वतों को चंचल कर देने वाला प्रलयकालीन पवन क्या मन्दराद्रि पर्वत को चंचल कर सकता है अर्थात् कदापि नहीं। यहां मन्दराद्रि पर्वत को उपमान के रूप में उपन्यस्त किया गया है।

चलिता चलेन = पर्वतों को चंचल कर देने वाला, यह प्रलयकालीन पवन का विशेषण है। चलिता अचलाः येन स चलिताचलस्तेन (बहु.)।

कल्पान्तकालमरुता — प्रलयकालीन पवन के द्वारा। कल्पस्य अन्तः कल्पान्त (त. पु.) कल्पान्तश्चासौ कालश्च कल्पान्तकाल (कर्म०) कल्पान्तकालस्य मरुत् कल्पान्त कालमरुत् तेन (त. पु.)।

निर्धूमवर्ति-रपवर्जित-तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः॥16॥

अन्वय — नाथ! त्वम् निर्धूमवर्तिः अपवर्जिततैलपूरः चलिताचलानाम् मरुताम् जातु न गम्यो (अथच) जगत्प्रकाशः (अतएव) अपरः दीपः असि। इदं कृत्स्नं जगत्त्रयं प्रकटीकरोषि।

अनुवाद — हे नाथ! तुम धूम और बत्ती रहित, तैलपूर (तैलप्रवाह) से रहित तथा पर्वतों को कंपा देने वाले पवन द्वारा अगम्य (अजेय) तथा जगत् को प्रकाशित करने वाले अद्वितीय दीपक हो। क्योंकि तुम तीनों लोकों को प्रकट करते हो।

व्याख्या — इसमें प्रभु श्री जिनेन्द्र देव की उत्कृष्टता प्रतिपादित है। संसार के सभी दीपक धूम तैलादि से युक्त हैं, अतएव परिमित स्थान पर ही प्रकाश फैलाते हैं, तथा पवन आदि प्रत्यूहों (बाधाओं) से बूझजाते हैं, लेकिन भगवान् जिनेश्वर ऐसे दीप हैं, जो सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है। तथा सभी बाधाओं से रहित है।

निर्धूमवर्ति — धूम और बत्ती से रहित। संसार के दीपक धूम और बत्ती युक्त हैं, अतएव कालुष्य की संभावना रहती है। लेकिन प्रभु वैसे दीपक है जिसमे केवल प्रकाश है, ज्ञान की किरणे सर्वत्र विकरित होती हैं। धूमश्च वर्तिश्च धूमवर्ति (द्वन्द्व) धूमवर्तिभ्याम् निर्गतो निर्धूमवर्तिः। कुछ टीकाकार धूम का अर्थ द्वेष और वर्ति का अर्थ कामदशा करते हैं। जो द्वेष और काम से रहित हो। नितरां गते निर्गते धूमवर्ती यस्मादसौ निर्धूमवर्तिः। धूमो द्वेषः वर्तिः कामदशाश्चेति (गुवि)। आचार्य मेघविजय ने धूम का अर्थ आन्तरिक क्रोध तथा वर्ति का अर्थ दश कामदशा किया है। धूम रूप कारण से अग्नि रूप कार्य का ग्रहण हो जाता है। रसोई घर के बाहर धूम रहता है और अग्नि भीतर विद्यमान होती है। उसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति के बाहर मुखादि काले (धूमवत्) दिखाई पड़ते हैं तथा भीतर क्रोध की ज्वाला धधकती रहती है।

अपवर्जित तैलपूर = तैल प्रवाह से रहित। यह पद भी अपरदीप का विशेषण है, जो सामान्य दीपों से वैलक्षण्य प्रकट करता है। अपवर्जितः त्यक्तस्तैलपूरो येन स तैलपूरः = स्नेह प्रकारः (गुवि)। संसार के जितने भी

दीप हैं सब तैल युक्त होते हैं, लेकिन भगवान् ऋषभ तैलप्रवाह से रहित हैं, अर्थात् संसारिक अनुराग, स्नेह, प्रीति आदि से रहित हैं। तैल शब्द यहां स्नेह का वाचक है। आचार्य मेघविजय ने लिखा है — तैलं चात्र स्नेहः, स्नेहश्चात्राध्यात्मिकः पितृमातृभ्रात्रादिषु संसारिकोऽनुरागस्तस्य पूरः समूहस्तद्रहितः। अर्थात् तैल स्नेह का वाचक है और आध्यात्मिक माता-पिता भाई आदि में संसारिक अनुराग को स्नेह कहते हैं। भगवान् संसारिक स्नेह समूह से रहित थे। तैलस्यपूरः (तत्पुरुष) अपवर्जितस्तैलपूरो येन सः (बहुव्रीहि) त्यक्तस्नेह प्रकारः (कवृ)।

चलिताचलानाम् मरुताम् जातु न गम्यः — पर्वतों को प्रकम्पित कर देने वाले हवाओं के जो वश में नहीं आता है। वह भी अपर दीप-प्रभु का विशेषण है। संसार के जितने भी दीपक है वे पवन, तुफानादि के वशवर्ती हो जाते हैं लेकिन प्रभु रूप दीपक कदापि वशवर्ती नहीं होता है। जातु — कदाचित् चलिताचलानां धुतगिरीणां मरुतां — वातानां न गम्यः — न वशः। अथवा पृथ्वी आदि को कम्पित कर देने वाले मरुतों, उपसर्गकारी देवों के द्वारा भी जो वशवर्ति नहीं किए जा सकते हैं। संसार के सभी प्राणी देवोपसर्ग से विचलित कर दिये जाते हैं, लेकिन प्रभु ऋषभदेव उपसर्ग एवं परिषहों के भयंकर वात्याचक्र (तुफान) में भी स्थिर रहते हैं। इसमें प्रभु की उत्कृष्टता गम्य है।

जातु = यह अव्यय पद है। कोशकारों ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया है:— कभी, सर्वथा, किसी समय, कदाचित्, एक बार, एक समय आदि। इस सन्दर्भ में सर्वथा और कदाचित् अर्थ उचित है। जातु = कदाचित् (गुवि., मेवि, कवृ)।

न गम्यः — वश में नही आने वाले, न गम्यः — न वशः, नाकलनीयः (गुवि) नाक्रमणीयः न पराभवनीयः (मेवृ.)।

जगत्प्रकाशः — जगद्विश्रुत, संसार में प्रसिद्ध अथवा जिसका ज्ञानालोक जगद्विश्रुत है। भुवनावभासी। यह भी प्रभु का, अपरदीप का विशेपण है। ससार के जितने भी दीप है वे सीमित स्थान पर ही प्रकाश फैलाते हैं। लेकिन यह

अपर दीप सम्पूर्ण संसार, में भाषित होता है, प्रकाश फैलाता है। इस विशेषण पद से प्रभु में अनन्त ज्ञान की अभिव्यंजना हो रही है अर्थात् जिनका ज्ञान प्रकाश सर्वत्र विस्तृत है, फैला हुआ है। अर्थान्तरन्यास के द्वारा प्रभु की महनीयता का प्रतिपादन किया जा रहा है। कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि- सम्पूर्ण विश्व को, पञ्चास्तिकायात्मक जगत् को अपने केवल ज्ञान रूप प्रकाश से प्रकट करते हैं, प्रकाशित करते हैं। इसलिए आप अपर दीप हैं।

इस श्लोक में परिकर, उदात्त, रूपक काव्यलिंग, संकर, संसृष्टि आदि अलंकारों का सुन्दर लास्य विद्यमान है। माधुर्य के साथ ओजोव्यंजक वर्णो के विन्यास से प्रभु भी उदात्तता, उत्कृष्ठता आदि का प्रतिपादन किया गया है।

साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकर, प्रभु की समृद्धि एवं उत्कृष्टता का निरुपण होने से उदात्त, अपरदीप — में रूपक, धूमादि से रहित होने के कारण अपूर्व दीप है — इसमें काव्यलिंग, तथा 'चलिताचलानाम्' में अनुप्रास आदि समझना चाहिए।।16।।

अगले श्लोक मे भगवान् ऋषभ की सूर्यातिक्रान्त महिमा का निरूपण किया जा रहा है।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर-निरुद्ध-महाप्रभावः,
सूर्यातिशायि-महिमासि मुनीन्द्र! लोके।।17।।

अन्वय — मुनीन्द्र! (त्वम्) कदाचित् अस्तम् न उपयासि न राहुगम्यः असि, न अम्भोधरोदर निरुद्ध महाप्रभावः युगपत् सहसा जगन्ति स्पष्टीकरोषि (अतः) लोके सूर्यातिशायी महिमा असि।

अनुवाद — हे मुनीश्वर! आप कभी अस्त नहीं होते हैं, न राहु के द्वारा ग्रसित किए जाते हैं, न बादलों के उदर से ही आपका महाप्रताप

निरुद्ध होता है, एक साथ सम्पूर्ण जगत् को प्रकट करते हैं, अतएव आपकी महिमा सूर्यातिशायी है (अर्थात् सूर्य की महिमा को भी अतिक्रान्त करने वाली है।)

व्याख्या — मुनीन्द्र — हे मुनियों के स्वामी, ऋषियों के स्वामी। मुनीनामिन्द्रो मुनीन्द्रस्तस्य संबोधने मुनीन्द्र (त. पु.)। मुमुक्षु प्रभो। इस पद के द्वारा भगवान् ऋषभ की श्रेष्ठता अभिव्यंजित है। इस श्लोक में भगवान् ऋषभ देव की महिमा का निरूपण है जो सूर्य से भी अतिशायी है। क्योंकि सूर्य अस्त हो जाता है, मेघों के द्वारा बाधित हो जाता है, ढक दिया जाता है और अल्प क्षेत्र को प्रकाशित करता है। लेकिन भगवान् ऋषभ की महिमा ऐसी है कि वह कभी अस्त को प्राप्त नहीं होती है, तथा अनन्त क्षेत्र में प्रकाश मान है। इस तथ्य को निम्न रूप में निरूपिन किया गया है — त्वम् कदाचित् अस्तं न उपयासि = तुम किसी भी समय अस्त नहीं होते हो, विनाश को प्राप्त नहीं होते हो।

अस्तम् = मरण, समाप्ति। दिष्टान्तोऽस्तं कालधर्म (अभिधानचिन्तामणि 2 238)। अस्तम् नाश अर्थ में अव्यय पद के रूप में स्वीकृत है — अस्तमित्यव्ययं नाशार्थे (मेवृ)।

कदाचित् — किसी भी समय में, कस्मिंश्चिदपि समये (मेवृ.)। सूर्य रात्रि में अस्त हो जाता है लेकिन प्रभु जिनेश्वर कभी भी समाप्त नही होते हैं। सिद्ध होने के कारण जरा मरणादि से रहित हैं।

उपयासि = प्रापण करते हो। प्राप्नोषि, गच्छसि।

न राहु गम्यः असि = राहु के द्वारा ग्रसनीय नहीं हो। सूर्य राहु के द्वारा ग्रस्त होता है लेकिन तुम राहु के वश में नहीं होते हो। न राहुगम्यः न सैंहिकेयग्रसनीयः (गुवि)। राहु पाप का वाचक भी है। अर्थात् प्रभो! आप पापो के द्वारा अतिक्रान्त नहीं होते हो, आपको पाप संस्पर्श भी नहीं कर पाते। राहुरत्र लक्षणया तमः — पापं ग्राह्यम्। तेन न गम्यः — न आक्रमणीयः (मेवृ) अर्थात् राहु पद से लक्षणा द्वारा पाप ग्राह्य है। जो पापो

के द्वारा आक्रमणीय या वश्य नहीं हो। इस वाक्य द्वारा प्रभु के पापातीत, अनाविल स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।

न अम्भोधरोदर निरुद्ध प्रभाव — आपका प्रभाव मेघों के द्वारा निरुद्ध नहीं होता है, बाधित नहीं होता है। न मेघपटल व्यालुप्तप्रकाशो भवति (मेवृ)। न अम्भोधरोदरेण -घनगर्भेण निरुद्धः छन्नो महाप्रभावो-गुरुप्रतापो यस्य स-मेघ पटल के द्वारा जिसका महाप्रभाव कभी भी छन्न नहीं होता है। टीकाकार मेघविजय ने 'संसार में रहकर भी अलिप्त स्वभाव वाले' की ओर निर्देश किया है। अम्भोधरा अत्र स्नेहधारिणः स्वजनास्तेषां उदरे — मध्येऽपि निरुद्धो — व्यपगतः प्रभावः तेजः स्वरूपं यस्य स ईदृशो नैव। अर्थात् स्वजनादि अम्भोधर पदवाच्य है। अम्भोधरा — स्वजनों के मध्य में रहते हुए भी जिनका तेज समाप्त नहीं हुआ, प्रभाव व्यपगत नहीं हुआ यानि संसार में रहकर भी कमल के समान अलिप्त स्वभाव वाले हैं।

अम्भो धरन्तीति अम्भोधराः (त. पु.) अम्भोधराणामुदरम् अम्भोधरोदरम् (त. पु.) अम्भोधरोदरेण निरुद्धोऽम्भोधरोदरनिरुद्धः (त. पु.) महांश्चासौ प्रभावश्च महाप्रभावः (कर्मधारय) अम्भोधरोदर निरुद्धो महाप्रभावो यस्य स (बहुव्रीहि) तात्पर्य है कि सूर्य का प्रभाव मेघों द्वारा बाधित हो जाता है लेकिन भगवान् अबाधित प्रभाव वाले हैं।

युगपत् सहसा जगन्ति स्पष्टीकरोषि — एक साथ सहसा सम्पूर्ण लोकों को प्रकट करते हो। प्रकाशित करते हो। सूर्य एक-एक कर कुछ लोकों को क्रमशः प्रकाशित करता है, सभी लोकों में उसका प्रकाश नहीं जा पाता है लेकिन प्रभु जिनेश्वर एक साथ, एक समय में ही सम्पूर्ण लोको को प्रकट करते हैं। इस पद के द्वारा भगवान् के अनन्तज्ञान की अभिव्यंजना हो रही है। भगवान् अनन्तज्ञानी थे इसलिए एक ही क्षण में सम्पूर्ण लोको को प्रकट करते हैं।

युगपत् = एक समय में। यह अव्यय पद है। समकालम् (गुवि.)

सहसा = अचानक, शीघ्र आदि अर्थो का द्योतक अव्यय।

सहसा शीघ्रार्थे युगपत् समकालार्थेऽव्ययम् (मेवृ.)

जगन्ति-सम्पूर्ण लोको को। सर्वभुवनानि (मेवृ.)।। भुवनानि (गुवि), त्रीणि भुवनानि (कवृ) स्पष्टीकरोषि = प्रकट करते हो। प्रकटयसि (गुवि) प्रकटानि कुरुषे (मेवृ) प्रकाशयसि (कवृ)।

लोके सूर्यातिशायी महिमा असि = संसार में सूर्य से अधिक (अतिशय) महिमा वाले हो। पूर्वोक्त गुणों के कारण भगवान् की सूर्यातिशयता प्रकट हो रही है इसलिए काव्यलिंग अंलकार है। सूर्य अस्त होता है, राहु से ग्रस्त होता है, लक्ष्यमात्र विश्व को प्रकाशित करता है, तथा मेघ से निस्तेज हो जाता है, लेकिन आप अपूर्व सूर्य हैं, जो कभी भी रात्रि आदि में समाप्त नहीं होते, न राहु से ग्रस्त होते, तथा सम्पूर्ण जगत् को एक साथ जान लेते हैं। सूर्य से भगवान् की महिमा की उत्कृष्टता बतलायी गयी है इसलिए व्यतिरेक अलंकार है। उदात्त, अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों की भी इस श्लोक में उपस्थिति है। यहाँ पर अपूर्व सूर्य के रूप में भगवान् की प्रस्तुति दी गई है। अगले श्लोक में भगवान् के अपूर्व चन्द्रबिम्ब के रूप में उदात्त स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं,
गम्यं न राहु वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्तिः,
विद्योतयज्जगदपूर्व-शशांक बिम्बम्।।18।।

अन्वय — (भगवन्) नित्योदयम् दलितमोहमहान्धकारम् न राहुवदनस्य गम्यम् न वारिदानाम् गम्यम् जगत् विद्योतयत् अनल्पकांतिः तव मुखाब्जम अपूर्वशशांकबिम्बम् (इव) विभ्राजते।

अनुवाद — सदा उदित रहने वाला, मोहरूपी महान्धकार को विनष्ट करने वाला, राहु तथा मेघों से अगम्य (बाधित नहीं होने वाला), संसार को प्रकाशित करते हुए अधिक कान्ति वाला आपका मुख-कमल अपूर्व (विलक्षण) चन्द्र बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है।

जगत् विद्योतयत् = भगवान् का मुख कमल संसार को प्रकाशित करता है। यह मुख-कमल की उत्कृष्टता को सूचित करता है। चन्द्रमा धरती मात्र को भी प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है लेकिन भगवान् का मुखकमल सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है। अतिशयोक्ति अलंकार। विश्वं प्रकाशयत् (गुवि, मेवृ)।

अनल्पकान्तिः — गुरुतर प्रकाश से युक्त। मुख का विशेषण। चन्द्र अल्पकान्ति वाला है क्योंकि कृष्णपक्ष में क्षीण होता है, लेकिन भगवान् का मुख गुरुतर प्रकाश से युक्त है, क्योंकि वह कभी क्षीण नहीं होता है। गुरुतरद्युतिः (गु.वि.) प्रबल प्रकाशम् (मे. वृ.)। न अल्पो अनल्पा (नञ्०) अनल्पाकान्तिर्यस्य तद् (बहु.)।

तब मुखाब्जम् — तुम्हारा मुखकमल। मुख रूपी कमल या मुखकमल। यहां पर मुख में सौदर्यातिशय अभिव्यंजित है। रूपक अलंकार।

अब्ज = कमल।

अपूर्वशशांकबिम्बमिव — अपूर्व चन्द्रमा के समान।

विभ्राजते — सुशोभित होता है। प्रकाशित होता है, दीप्त होता है। भ्राज् धातु का प्रयोग चमकना, दमकना, चमचमाना आदि अर्थो में होता है। भ्राज् = To shine, gleam. flash. glitter संस्कृत अंग्रेजी कोश — आप्टेकृत पृ० 414.

टीकाकारों ने विभ्राजते का अर्थ किया है — भाति (गु. वि.) शोभते (मेवृ)।

इस श्लोक में व्यतिरेक, काव्यलिंग, रूपक, उपमा, उदात्त अतिशयोक्ति, संकर, संसृष्टि आदि अलंकार हैं तथा माधुर्यगुण के साथ ओजोगुणव्यंजकता भी विद्यमान है। तव मुखाब्जम्-विभ्राजते में उपचार वक्रता है। भगवान् का मुखकमल चन्द्रमा से अधिक शोभातिशायी है। इसलिए व्यतिरेक, मोहमहान्धकार को दलित करने के कारण नित्य-उदित है — काव्यलिंग, मुखाब्ज और मोहमहान्धकार में रूपक, अपूर्वशशांक बिम्बमिव — उपमा,

वस्तु-मुखकमल की शोभा-समृद्धि का निरूपण होने से उदान्त आदि अलंकार समझना चाहिए।

प्रभु का बाह्य-सौन्दर्य मुखादि अत्यन्त लावण्य विभूषित होता है। स्तुति साहित्य में उपास्य या स्तव्य के अंगों के सौन्दर्य चित्रण में उपमा या रूपक के रूप में कमल का व्यवहार अतिशयता से देखा जाता है क्योंकि कमल किचड़ में उत्पन्न होकर भी किचड़ से अलिप्त एवं शोभा, सुगन्धि तथा चारुता आदि गुणों से युक्त होता है। कुन्ती भगवान् कृष्ण की स्तुति करती हुई कहती है —

नमः पंकजनाभाय नमः पंकजमालिने।
नमः पंकजनेत्राय नमस्ते पंकजाङ्घ्रये।।

भा पु 1822

किं शर्वरीषु शाशिनाऽह्नि विवस्वता वा?
युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ!
निष्पन्नशालि-वन-शालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैः जलभार-नम्रैः।।19।।

अन्वय — नाथ! युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमस्सु शर्वरीषु शशिना किम् वा अह्नि विवस्वता किम्। निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके जलभारनम्रैः जलधरैः कियत् कार्यम्?

अनुवाद — हे नाथ! आपके मुख रूपी चन्द्रमा से अन्धकार के नष्ट हो जाने पर रात्रियों में चन्द्रमा से और दिन मे सूर्य से क्या प्रयोजन? पके हुए धान्य के खेत से युक्त जीवलोक में (धरती पर) जलभार से झुके हुए मेघों से क्या कार्य? (अर्थात् कुछ भी नहीं)।

व्याख्या — यहां भी व्यतिरेक के माध्यम से भगवान् के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

नाथ-स्वामी, प्रभु। नाथ शब्द स्तोत्र साहित्य में अधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्तामर-स्तोत्र में अनेक बार नाथ शब्द का प्रयोग किया गया है — श्लोक संख्या 8,16.19.21.26 आदि। कल्याण मन्दिर स्तोत्र में भी अनेक बार यह पद प्रयुक्त हुआ है — भवन्नपि नाथ! — 4, तवनाथ — 5. भुवनेषु नाथ — 26. त्वनाथ — 29. 39. भुवनाधिनाथ-41 नाथ-42। नाथ शब्द का अर्थ प्रभु, स्वामी, रक्षक, पति आदि होता है।

तमस्सु — विवस्वता किम् — आपके मुख रूपी चन्द्रमा के द्वारा अन्धकार के विनष्ट हो जाने पर रात्रियों में चन्द्रमा और दिन में सूर्य का क्या प्रयोजन? अर्थात् भगवान् का मुख चन्द्र और सूर्य से भी श्रेष्ठ है। चन्द्रमुख में रूपक तथा किम् में अर्थापत्ति अलंकार है। शर्वरी = रात्रि; विवस्वता-सूर्य से।

दृष्टान्त के द्वारा भगवान् के मुख के सामने चन्द्र सूर्य की प्रयोजनहीनता को स्पष्ट कर रहे हैं — निष्पन्न — कार्यम् — पके हुए खेत मे से क्या लाभ? जब फसल पक गई हो तो बरसात का क्या प्रयोजन? यहां पर चन्द्र सूर्य तथा मेघ, रात-दिन और जीवलोक, अन्धकार का मिटना और धान्य का पकना आदि मे विम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

शालिवन — धान्य की क्यारी।

निष्पन्न = पका हुआ। निष्पन्नैः पाकं प्राप्तैः शालिवनैः कलमादिकेदारैः शालते-शोभत इत्येवंशीलः तस्मिन्। तृण, वल्ली, धान्यादि के उत्पन्न हो जाने पर केवल कलेश, कीचड़ आदि को हेतु होने के कारण मेघ निष्फल हो जाते हैं, उनकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। उसी प्रकार चन्द्र और सूर्य भी उपयोगिता रहित हो गए हैं।

मुखमेव इन्दुः मुखेन्दुः (त पु) युष्मन्मुखेन्दुना दलितानि युष्मन्मुखेन्दुर्दलितानि तेपु (त पु) युष्मन्मुखेन्दुदलितेपु। शालीना वनानि शालिवनानि (त पु)

निष्पन्नानि च तानि शालिवनानिच निष्पन्न शालिवनानि (कर्म) निष्पन्नशालिवनैः शालते इत्येवं शीलो निष्पन्नशालिवनशाली तस्मिन् (त. पु.) निष्पन्नशालिवनशालिनि। जलस्य भारो जलभारः (त.पु.) जलभारेण नम्राः जलभारनम्रास्तैः (त पु) जलभारनम्रैः — मेघ का विशेषण। जलं धरन्तीति जलधरास्तैः जलधरैः = मेघैः।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि।।20।।

अन्वय — कृतावकाशम् ज्ञानम् यथात्वयिविभाति तथा हरिहरादिषु नायकेषु न एवम्। स्फुरन्मणिषु तेजः यथा महत्त्वं याति किरणाकुले अपि काचशकले तु न एवम्।।20।।

अनुवाद — (धर्म, अधर्मादि अथवा अनन्त पर्यायात्मक पदार्थो को) प्रकाशित करने वाला ज्ञान (केवलज्ञान) जैसा आपमें सुशोभित होता है, वैसा हरिहरादि नायकों में नहीं। स्फुरायमाण मणियों में प्रकाश जैसा महत्त्व को प्राप्त होता है वैसा किरणों से व्याप्त (प्रकाश युक्त) होते हुए भी कांच के टुकडों में नहीं होता है।

व्याख्या — इस श्लोक में भगवान् के अनन्तज्ञान युक्त स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जैसा केवल ज्ञान भगवान् ऋषभ में सुशोभित होता है वैसा हरिहरादि नायकों में नहीं। यहां व्यतिरेक अलंकार है। ऋषभ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास युक्त सूक्ति से की गई है— तेजः०। कृतावकाशम् — प्रकाशयुक्त, प्रकाश करने वाला। यह ज्ञान का विशेपण है। भगवान् का ज्ञान धर्मादि सम्पूर्ण लोक का प्रकाशक है अर्थात् वे सर्वज्ञ हैं। अनन्तपर्यायात्मकवस्तुनि विहितप्रकाशम् (गु. वि.) कृतः

विहित: अवकाश: स्थानं प्रकाशोवा येन तत् (मेवृ.) कृतोऽवकाशोयेनतत् कृतावकाशम् (बहु) विहितप्रकाशं धर्माधर्मादीनाम् (कवृ)।

ज्ञानम् — यथावस्थित अर्थो का, तत्त्वों का परिच्छेदक बोध ज्ञान कहलाता है। जैन दर्शन में ज्ञान के स्वरूप की चर्चा विस्तृत रूप से उपलब्ध है —

भूतार्थप्रकाशनं ज्ञानम् (धवला 1 1 1 4 142 3) अर्थात् सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति विशेष का नाम है ज्ञान।

यथात्वयिविभाति। जिस प्रकार तुम्हारे में सुशोभित होता है।

यथा = जिस प्रकार, जैसा। यह अव्ययपद है। तथा हरिहरादिषु नायकेषु न एवम् = वैसा ज्ञान विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, स्कन्द, बुद्ध आदि स्वमतप्रवर्तकों में नहीं पाया जाता है।

तथा = उस प्रकार से — तेन प्रकारेण। यह भी अव्यय पद है।

हरिहरादिषु नायकेषु न एवम् = विष्णु रुद्र आदि अपने-अपने मत प्रर्वतकों में। हरिश्चहरश्च हरिहरौ (द्वन्द्वः) हरिहरावादौ येषां ते हरिहरादयस्तेपु (बहु.) नायकेषु — लोक देवता के रूप प्रसिद्ध, स्वमत प्रवर्तक। लोकदैवत्वेन स्थापितेषु (क. वृ.), स्वस्वमतयतिषु (गुवि) देशाधिपत्येन प्रसिद्धेषु लोकैर्देवत्वेन स्थापितेषु (मे. वि.)। तात्पर्य है कि भगवान् ऋपभ विष्णु आदि देवों से श्रेष्ठ हैं। जिस प्रकार केवलज्ञान से ऋपभदेव विभूपित हैं वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस तथ्य की स्थापना के लिए दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास गर्भित सूक्ति की उपस्थापना करते हैं —

तेजःकिरणाकुलेऽपि = अर्थात् स्फुरित मणियों मे प्रकाश जिस प्रकार महत्त्व को प्राप्त होता है, सुशोभित होता है, वैसा किरणाकुल काच खंड मे नहीं। मणि में प्रकाश को धारण करने का जो सामर्थ्य होता है वह कांच में कहां संभव है? यहां मणि और ऋपभदेव, हरिहरादि देव और कांचखण्ड तथा ज्ञान और तेज मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है इसलिए दृप्टान्त अलकार है। इस विशेप तथ्य का प्रतिपादन 'तेज०' रूप सूक्ति से किया गया है इसलिए अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

देखने के बाद आपको देखने से परमशान्ति की प्राप्ति होती है, अन्यत्र दर्शन की लालसा नहीं होती है। इन्द्रियां थम जाती हैं। मन स्थिर हो जाता है। भक्ति का यही रूप है, सौन्दर्य का यही धाम है। जहां पहुंचने के बाद यात्रा समाप्त हो जाए। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

गीता - 8/21

इसमें व्याजोक्ति अलंकार है। प्रकट वस्तु किसी बहाने छिपायी जाए तो व्याजोक्ति अलंकार होता है — व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न वस्तुरूपनिगुहनम्— (काव्यप्रकाश 10/118)। व्याजोक्ति में व्यंजना व्यापार के द्वारा तथ्य रसिक समूह के सामने प्रकट होता है जो पहले-सामान्य वचन से अधिक सशक्त एवं प्रभावकारी होता है। हरिहरादय एव दृष्टाः वरं मन्ये — में व्याजोक्ति अलंकार से व्याज-निन्दा अनुस्युत है। अर्थात् विष्णु आदि देव रागादि से युक्त हैं, उनके दर्शन करने के बाद आपके दर्शन से परमशान्ति की प्राप्ति होती है। क्योंकि आप परमशान्त दांत और वीतराग पुरुष हैं — यह ध्वनित हो रहा है। लेकिन किं विक्षितेन भवता० — आपके दर्शन से क्या लाभ? एक बार जिस को देख लेने के बाद मन, इन्द्रियां आदि अन्यत्र नही जाना चाहती। सदा-सदा के लिए स्थिर हो जाते हैं — यहीं भक्ति की भूमिका है। यदि अन्य की इच्छा बनी रहती है तो वह भक्ति नही जार-प्रच्छन्न कामुकता का रूप बन जाता है। यहां व्याज स्तुति अलकार भी है। निन्दा के व्याज से स्तुति की गई है। आपके वैसे दर्शन से क्या लाभ जिसके बाद इस जन्म में कौन कहे अन्य जन्म में भी मन अन्यत्र नही हरण होता है, नहीं लगता है। स्तोत्र साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पितामह भीष्म की मन एवं वृत्तिया सदा-सर्वदा के लिए प्रभु चरणो मे स्थिर हो गई है। वे भेदमोह से रहित हो गए—

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि-हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्॥
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेद मोहः॥

भा पु 1 9 42

अर्थात् जैसे एक ही सूर्य अनेक आंखों से अनेक रूपों में दीखते हैं, वैसे ही अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने ही द्वारा रचित अनेक शरीरधारियों के हृदय में जान पड़ते हैं। उन्हीं इन भगवान् श्री कृष्ण को मैं भेदभ्रम से रहित होकर प्राप्त हो गया हूं।

गोपियां सर्वात्मना प्रभु चरणों में स्थिर हो गयी हैं। उनकी आंखें, मन, वाणी, हाथ-पैर प्रभु श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते हैं। वे कहती हैं —

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथंव्रजमथो करवाम किं वा।।

भा. पु. 10 29 3

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्।।22।।

अन्वय — स्त्रीणां शतानि शतशः पुत्रान् जनयन्ति अन्या जननी त्वदुपमम् सुतम् न प्रसूता सर्वाः दिशः भानि दधति प्राची दिग् एव स्फुरदंशुजालम् सहस्त्ररश्मिं जनयति।

अनुवाद — सैकडों स्त्रियां सैंकड़ों वार पुत्रों को जन्म देती हैं परन्तु दूसरी माता तुम्हारे समान पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकती है। सभी दिशाएं नक्षत्रों को धारण करती हैं। लेकिन पूर्व दिशा ही देदीप्यमान किरण-समूह से युक्त सूर्य को उत्पन्न करती है।

व्याख्या — इस श्लोक में भगवान् की विशिष्टता एवं महनीयता का उद्घाटन किया गया तथा साथ ही ऋषभ-जननी की उत्कृष्टता का भी प्रतिपादन किया गया है।

स्त्रीणां शतानि = सैकड़ों स्त्रियां Hundreds of women। स्त्रीणां नारीणां शतानि — बहुवचनत्वात् कोटिकोट्यः (गुवि) बहवो नार्यस्तत्स्वभावात् (मेवृ.) नारीणां शतानि बहुवचनत्वात् कोटाकोटिसंख्याः (कवृ)।

शतशः — सौकड़ों, (hundreds) बहुशतानि (मेवृ.), कोटिकोटिसंख्यान्। शतंशतं इति शतशः। यह पुत्रान् का विशेषण बनता है।

पुत्रान् — तनयों को, पुत्रों को

जनयति — जन्म देती हैं, उत्पन्न करते हैं। प्रसुवते (गुवि, मेवृ, कवृ)। जनी प्रादुर्भावे धातु से परस्मैपद हुआ है।

अन्या जननी — न प्रसूताः = अन्य कोई भी माता तुम्हारे समान पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकती है। इस वाकय में भगवान् ऋषभ और उनकी माता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

जननी = माता, जनयित्री।

जनयित्री प्रसूर्माता जननी — अमर कोश 26 1 29

उपमम् = सदृश। त्वदुपमम् = तुम्हारे सदृश।

सर्वा-दिशः — जनयति - सभी दिशाएं नक्षत्रों को धारण करती हैं लेकिन प्राची दिशा ही स्फुरित किरणों से युकत सूर्य को उत्पन्न करती है।

दिशः = दिशा A direction, cardinal point, point of compass, quarter of the sky — आप्टे।

दिश : ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्चताः — अमरकोश 1 1 2 2।

भानि = नक्षत्रों को। नक्षत्राणि तारकानि (गुवि) नक्षत्रों कों, ताराओं को।

जैसे पूर्व दिशा ही सूर्य को उत्पन्न करती है अन्य दिशाए सूर्य को उत्पन्न नही कर सकती उसी प्रकार ऋषभ माता के अतिरिक्त अन्य माताएं ऋषभ

वैसे पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकती है। दृष्टान्त अलंकार है। भगवान् ऋषभ और सूर्य तथा ऋषभमाता एवं प्राची दिशा में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

स्फुरदंशुजालम् — चमत्कारकलापम्। विलसत्किरण-समूहम्। विलसित किरण-समूह से युक्त। यह सहस्ररश्मिं-सूर्य का विशेषण है। स्फुरन्तश्च ते अंशवश्च स्फुरदंशवः (कर्म.) स्फुरदंशूनां जालं यत्र स स्फुरदंशुजालस्तं (बहु.)।

सहस्ररश्मिं = सूर्य को। सूर्यम्। सहस्रं रश्मयो यस्य स सहस्ररश्मिस्तं (बहुव्रीहिः)।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥23॥

अन्वय — मुनीन्द्र! मुनयः त्वाम् आदित्यवर्णम् अमलम् तमसः परस्तात् परमम् पुमांसं आमनन्ति त्वाम् एव सम्यक् उपलभ्य मृत्युं जयन्ति। शिवपदस्य अन्यः शिवः पन्थाः न (अस्ति) ॥23॥

अनुवाद — हे मुनीन्द्र! ज्ञानी लोग आपको आदित्यवर्ण (सूर्य के तुल्य तेज से युक्त), दोषरहित एवं अंधकार से रहित परम पुरुष मानते हैं। आपको ही सम्यक् रूप से प्राप्त कर (योगीजन) मृत्यु को जीत लेते हैं। (आपको छोड़कर) शिवपद (मोक्षपद) का प्रापक अन्य कोई मार्ग नहीं है।

व्याख्या — प्रस्तुत श्लोक भक्तिशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महनीय है। इसमें वर्णित विषयों को तीन विभागों में रखा जा सकता है:—

1 उपास्य का स्वरूप

2 प्रभु शरणागति से मृत्यु जय — भक्ति से लाभ

3 मोक्ष पद प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन भक्ति है।

1. उपास्य का स्वरूप — श्लोक के प्रथम दो चरण में उपास्य की महिमा एवं उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। उनके लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है —

आदित्यवर्णम् — सूर्य के समान कान्ति वाले को। आदित्यस्येव वर्णः कान्तिर्यस्य तमादित्यवर्णम् (गुवि)। अन्य आचार्यो ने भी अपने उपास्य के लिए आदित्यवर्ण विशेषण का प्रयोग किया है।

अमलम् = मलरहित, पाप रहित। रागादि से रहित। रागद्वेषमलरहितम् (गुवि) निर्मल-ज्योतिष्मन्तम् (मेवृ) सकलद्वेपमलरहितम् (कवृ) न विद्यते मलो यत्र सोऽमलस्तम् (बहु.)।

तमसः परस्तात् — अन्धकार से आगे विद्यमान अर्थात् अन्धकार से परे को, पापादि से परे को। अज्ञान से परे को। इस विशेपण के द्वारा प्रभु की शुद्धता एवं ज्ञानरूपता की अभिव्यंजना हो रही है। परस्तात् अव्यय पद है। यह निम्न अर्थो मे प्रयुक्त होता है — परे, के दूसरी ओर, और आगे। संस्कृत साहित्य मे बहुत स्थानों पर इसका प्रयोग मिलता है।

परमं पुमांसम् = श्रेष्ठ पुरूप को, कर्मरहित पुरूप को। सत्व, रज, तम गुणों से अतीत, सम्पूर्ण जगत् के ध्येय निर्विकार पुरूप को।

आमनन्ति = मानते हैं। कहते हैं। भणन्ति अवबुध्यन्ते (गुवि.) आङ् उपसर्ग पूर्व म्ना अभ्यासे धातु का लट्लकार प्रथमपुरुप बहुवचन का रूप है। पाघ्रा ध्मास्था म्ना० (अप्टाध्यायी 7 3 78) से मन आदेश हुआ है।

त्वामेव — जयन्ति - तुमको ही प्राप्त कर लोग मृत्यु को जीत लेते हैं। प्रभु चरण, उपास्य गृह गमन से मृत्यु का, ससारचक्र का भय समाप्त हो जाता है। इस पंक्ति मे भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। भक्ति के द्वारा भक्त मृत्यु को भी जीत लेता है, प्रभु शरण में उपस्थित होकर सर्वभयमुक्त हो जाता हैं। आचार्य कपिल कहते हैं कि जिस प्रकार जठराग्नि निगीर्ण

भोजन को अतिशीघ्र समाप्त कर देती है, उसी प्रकार अनिमित्ता भागवती भक्ति कर्म संस्कारजन्य लिङ्गशरीर को अतिशीघ्र समाप्त कर देती है इसलिए वह सिद्धि से भी श्रेष्ठ है —

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।।

भा० पु० 3 25 33

प्रस्तुत श्लोक — 'त्वामामनन्ति' उत्कृष्ट एवं व्यापक है। अनेक स्तोत्र हैं, जिनमें इस प्रकार के वाक्य, पद या भावों का विनियोजन हुआ है। विश्व का आद्यग्रन्थ ऋग्वेद का एक श्लोक द्रष्टव्य है —

ऊं नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हन्तमादित्यवर्ण तमस पुरस्तात् स्वाहा — ऋग्वेद।

शुक्लयजुर्वेद की पंक्ति द्रष्टव्य है —

वेदाहमेतं पुरूषं महान्तम् आदित्यवर्ण तमसः परस्तात् - शुक्लयजुर्वेद - 31। पुरूषसूक्त।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (3 8) —

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

अर्थात् मैं इस अज्ञानातीत प्रकाशस्वरूप महान् पुरूष को जानता हूं। उसे ही जानकर पुरुष मृत्यु को पार कर जाता है इसके अतिरिक्त परमपद प्राप्ति का कोई मार्ग नहीं है।

भक्तामर के तेवीसवें श्लोक से इस श्लोक का अक्षरशः साम्य है।

गीता में भी इस ध्वनि से युक्त श्लोक उपलब्ध होता है:—

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप —
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

गीता 8 9,10

कल्याण मन्दिर स्तोत्र श्लोक (18) में वीततमस: शब्द का प्रयोग है जो तमस: परस्तात् का ही अर्थ देता है।

भक्तामर स्तोत्र के इस श्लोक में उपास्य के लिए चार विशेषणों का प्रयोग किया गया है जिसका प्रभूत उपयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है—

परमं पुमांसम् —

सहस्र शीर्षा पुरुष: ऋग्वेद — 10/189

अत्रायं पुरूष: स्वयं ज्योति: बृह 4 3 9। परम शब्द का प्रयोग अनेक बार उपास्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए किया गया है।

परमंब्रह्म — बृहदारण्यकोपनिषद् 4 1 2. परमंपदम् - मैत्रेय्युपनिषद् (4 2), परमं ब्रह्मधाम, परमं ब्रह्मवेद — (मुण्डक० 3 2 1,9), अक्षरं परमं प्रभुम् — महानारायणीयोपनिषद् (11 1)।

गीता में अनेक स्थलों पर 'परम' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है —

अक्षरं ब्रह्म परमम् 8 3

परमं पुरुषम् दिव्यम् 8 8

पवित्रं परमं भवान् 10 12

परमं रूपमैश्वरम् 11 9

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् 11 18

आदित्यवर्णम् = श्रुतियों में अनेकस्थलों पर ब्रह्म, ईश्वर, प्रभु, उपास्य आदि को आदित्यवर्ण विशेषण से अभिहित किया गया है।

आदित्यवर्णम् — श्वेताश्वतर 3 8

आदित्यवर्णमूर्जस्वन्तं ब्रह्म — मैत्रेय्युपनिपद् 6 24

अमलम् — यह भक्ति शास्त्र का अत्यन्त प्रिय शव्द है। भागवतीय स्तुतियों मे इस शव्द का प्रभूत उपयोग हुआ है।

तमस: परस्तात् — ब्रह्म के लिए अनेक बार विशेपण का प्रयोग किया गया है —

तमसः परस्तात् — श्वेताश्वर-3, गीता 8 9

ब्रह्म तमसः परमपश्यत् — मैत्रेयी० 6 24

तमसः पारम् — 6 30

तमसः परस्तात् — मुण्डकोपनिषद 2 2.6

महानारायणीयोपनिषद् 1 5, कैवल्योपनिषद्-7

नृसिहोत्तर० — 9

तमसः परमुच्यते — गीता 1 17

इस श्लोक में सार्थक विशेषणों के प्रयोग से परिकर, तुमको प्राप्त कर— कारण तथा मृत्यु को जीत लेते हैं — कार्य भाव होने से काव्यलिंग, परमंपुमासम् में अनुप्रास अलंकार है। प्रभु की उत्कृष्टता का प्रतिपादन है इसलिए उदात्त अलंकार है।

त्वामव्ययं विभुमचिन्तमसंख्य-माद्यं,
ब्रह्माणमीश्वर-मनन्त-मनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्।
ज्ञानस्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः।।24।।

अन्वय — सन्तः त्वाम् अव्ययम् विभुम् अचिन्त्यम् असंख्यम् आद्यम् ब्रह्माणम् ईश्वरम् अनन्तम् अनंगकेतुम् योगीश्वरम् विदितयोगम् अनेकम् एकम् ज्ञानस्वरूपम् अमलम् प्रवदन्ति।

अनुवाद — हे भगवन्! विद्वान् लोग आपको अव्यय, विभु, अचिंत्य, असंख्य आद्यपुरूष, बह्मा, ईश्वर, अनन्त, कामजेता (काम विजेता), योगीश्वर, योगविशारद, अनेक, एक, ज्ञानस्वरूप तथा निर्मल कहते हैं।

व्याख्या — यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रयुक्त अनेक विशेषणों के द्वारा प्रभु के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है।

अव्ययम् — अपरिवर्तनशील, अविनश्वर, अखंडित, नित्य, शाश्वत। Not liable to change, imperishable, immutable, eternal, everlasting

जो चय-अपचय, वृद्धि-ह्रास, उत्थान-पतन से रहित हो वह अव्यय है।

न व्येति — न चयापचयं गच्छतीत्यव्ययस्तम् सर्वकालस्थिरैकस्वभावम् (गुवि.) क्षय रहितम् नित्यमित्यर्थः (मेवि.) नविद्यते व्ययो यस्य सोऽव्ययस्तम् (बहु०) सर्वकालस्थितिक स्वभावम् (कवृ.)। तात्पर्य यह है कि भगवान् हमेशा एक स्वभाव या स्थिर स्वभाव वाले हैं। इस शब्द का प्रयोग भक्तिशास्त्रों में अपने उपास्य की नित्यता का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। उपनिषद, गीता एवं पुराणों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म, ईश्वर, प्रभु आदि के लिए अव्यय विशेषण का प्रयोग हुआ है।

अव्ययः स ब्रह्मा — कौशितकी 1 7

अरूपमव्ययम् — कठोपनिषद् 3 15, मुक्तिकोपनिषद् 2 72

ईशानो ज्योतिरव्ययः, ब्रह्माव्ययम् (श्वेता, 3 12, 6 10) परेऽव्यये, सुखमव्ययम्, अणुमव्ययम् मैत्रेयी० 6 18,20.35

सुसूक्ष्मव्ययम् (मुण्डक. 1 1 6) अनन्तमव्ययम् (महानारा० 11 7) प्रोक्तवानहमव्ययम्, त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता (गीता. 4 1, 11 18)

बिर्भर्त्यव्ययः ईश्वरः (15 17)

विभुम् — शक्तिशाली, समर्थ, सर्वोपरि। इस विशेषण से भगवान् ऋषभ में परमैश्वर्यगुणसम्पन्नता अभिव्यंजित है। विभाति परमैश्वर्येण शोभत इति विभुस्तम्। विभवति कर्मोन्मूलने समर्थे भवतीति वा विभुस्तम्। (गुवृ) अर्थात् जो परमैश्वर्य से सम्पन्न हो, कर्मोन्मूलन मे समर्थ हो। वह विभु है। आचार्य हेमचन्द्र ने विभु का अर्थ अर्हत् किया है। Mighty, powerful, eminent, supreme, कठोपनिषद् आदि ग्रन्थो मे आत्मा के लिए विभु शब्द का प्रयोग किया गया है —

महान्तं विभुमात्मानम् मत्वा — कठ० 2 22, 4 4

नित्यम् विभुम् — मुण्डक० — मुण्डक० 1 1 6

आदिदेवमजं विभुम् — गीता 10 12

अचिन्त्य — जो सोचा भी नहीं जा सके, बुद्धि से परे। भगवान् ऋषभ बुद्धिन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है। आध्यात्मिकैरपि न चिन्तितुं शकयस्तमचिन्त्यम् अत्यद्भुतगुणयुतं वा (गुवि.) अनाकलनीय स्वरूपम् (मेवृ०)।

उपनिषदों और गीता में प्रभु, ईश्वर, परमात्मा आदि के लिए 'अचिन्त्य' विशेषण का प्रयोग हुआ है।

अचिन्त्यायाप्रमेयाय — मैत्रेय्युपनिषद् 5 1

अजो अतकर्य अचिन्त्यः — मैत्रेय्युपनिषद् 6 17

अचिन्त्यं गुह्यमुत्तमम् — मैत्रेय्युपनिषद् 6 19

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् — गीता 2 25

सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च — गीता 2 25

सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च — गीता-12 3

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम् — मुण्डकोपनिषद् 3 1 7

असंख्यम् — जिसकी गणना न की जा सके। गणना से परे। जिसकी गुणों की संख्या या इयत्ता न हो। अनन्त गुणसपन्न। यह भी भगवान् ऋषभ का विशेषण है। इस विशेषण से भगवान् की गुणाधिकयता का प्रतिपादन हो रहा है। गुणानां न संख्या इयत्ता यस्य तमसंख्यम्। गुण और काल से जिसकी संख्या-गणना नहीं की जा सके वह असंख्य है — गुणतः कालतो वा संख्यातुमशकयस्तमसंख्यम् (गु. वि.)।

मैत्रय्युपनिषद् मे ब्रह्म के लिए असंख्य शब्द का प्रयोग किया गया है— निरात्मकत्वादसंख्योऽयोनिश्चिन्त्यः — मैत्रेयी० 6 20।

आद्यम् — प्रथम, आदिकालीन। जो सर्वप्रथम हो या लोकव्यवहार की सृष्टि के लिए सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ हो वह। आदौ भव आद्यस्तम् (गुवि.)। भगवद्गीता मे इस विशेषण का प्रभूत उपयोग हुआ है —

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् — गीता 8 28 विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम् — गीता 11 31

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम् — गीता 11 47।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये — गीता 15 9

ब्रह्माणम् — विधाता। भगवान् ऋषभ देव तीर्थप्रवर्तन एवं धर्मसृष्टि के कर्त्ता होने के कारण ब्रह्मा अथवा विधाता हैं। तीर्थादिकरत्वेन धर्म सृष्टिप्रणयनाद् विधातारम् — मेवृ.। ब्रह्म का अर्थ निर्वाण है, जो निर्वाण में प्रतिष्ठित है अथवा सर्वकर्म मुक्त है वह। यह विशेषण भगवान् के बन्धन रहित, मुक्त तथा धर्मप्रवर्तक या तीर्थकर्ता आदि स्वरूप पर प्रकाश डाल रहा है। उपनिषदों में अनेकशः स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है।

ईश्वरम् — अनन्त ऐश्वर्य ये युक्त को, त्रैलोक्यपूज्य को। सभी देवों में पूज्य को। सकलसुरेषु ईशितुं शीलमस्य तमीश्वरं कृतार्थं वा (गुवि.), त्रैलोक्यपूजनीयत्वेन अनन्यतुल्यैश्वर्यधारिणम् (मेवृ.) भगवान् ऋषभ अनन्तैश्वर्य– अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्तवीर्य रूप ऐश्वर्य के धारक थे। यह शब्द वैदिक वाङ्मय में बहुत प्रचलित है।

अनन्तम् — अनन्तगुणों के धारक या अन्तरहित। मृत्युरहित। न अन्तो मृत्युरूपो यस्यतम्। अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न। अनन्त पद अनेकों बार ब्रह्म के लिए आया है —

अनन्तश्चात्मा विश्वरूप — श्वेत० 1 9

अनन्तमपारं विज्ञानघन एव — बृह० 2 4 12

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म — तैत्तिरीय० 2 1 1

अनन्त देवेश जगन्निवास — गीता 11 37

अनंगकेतुम् — कामविनाशक। इस विशेपण के द्वारा भगवान् के कामविनाशक या कामजेता रूप पर प्रकाश पडता है। कामदेव के लिए केतु स्वरूप अर्थात् विनाशक, जेता आदि। जिस प्रकार केतु उदित होकर जगत् का विनाश करता है उसी प्रकार भगवान् ऋपभ काम विनाशक हैं। केतु का अर्थ झंडा, पताका भी होता है। जिसने कामदेव पर अपनी पताका फहरा दी है अर्थात् उसको जीत लिया है। कामजेता। रूपक अलकार है।

योगीश्वरम् — संयमियों के स्वामी, योगियों के स्वामी, योगिनां ध्येयम् (मेवृ)। ध्यानियों के ईश्वर। मैत्रेय्युपनिषद् में योगीश्वर शब्द का प्रयोग है—

योगीश्वरः सर्वज्ञः — मै० 7 1

भगवान् कृष्ण के लिए गीता में अनेक बार योगेश्वर शब्द का प्रयोग मिलता है। द्रष्टव्य गीता — 11 4, 18 75, 18 78।

विदितयोगम् — जिसने योग को जान लिया है। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र रूप योग को जान लिया है अथवा जो ध्यानियों के द्वारा गम्य है, अथवा जिसने योग-कर्मबन्ध को जान लिया है, खण्डित कर दिया है। अथवा जो ध्यान की विधियों को सम्यक् रूप से जानता है, अष्टांग मार्ग का ज्ञाता। भगवान् कर्ममुक्त हैं, ज्ञानदर्शन चारित्र में प्रतिष्ठित हैं आदि तथ्य इस विशेषण से ध्वनित हैं।

अनेकम् — अनेक गुणों से युक्त। ज्ञान के कारण जो सर्वगत हैं उसको।

एकम् — अद्वितीय को, उत्तमोत्तम को। इस विशेषण पद से भगवान् ऋषभ की सर्वश्रेष्ठता अभिव्यंजित है। अन्यत्र भी अपने उपास्य, ईश्वर, ब्रह्म आदि के लिए 'एकम्' विशेषण उपलब्ध होता है।

एक आहुः — कौशीतकी उपनिषद् 3 2

एकमेवाद्वितीयम् — छान्दोग्य० 6 2-1

स एको — तैत्तिरोयोपनिषद् — 2 8 1

एकोवशी — कठ 5.12

अजा ह्येका — श्वेत 1 9

ज्योतिरेकम् — मैत्रेयी 6.8

तदेकं वद — गीता 3 2

मामेकं शरणं व्रज — गीता 18 66

ज्ञानस्वरूपम् — ज्ञानस्वरूप, चिद्रुप, केवलज्ञानमय। आत्मा जब

कर्ममलों से सर्वथा मुक्त हो जाती है, तब उसका स्वरूप केवल ज्ञानमय हो जाता है। भगवान् ऋषभ केवल ज्ञान स्वरूप हैं। उपनिषदों में अनेकस्थलों पर ब्रह्म को ज्ञानमय कहा है —

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म — तै० 2.1 1, स्वरूपोपनिषद्-3

ज्ञानं ज्ञानवतामहम् — गीता 10 38

अमलम् — निर्मल, दोषों से सर्वथा रहित, अष्टादश दोषों से रहित।

प्रवदन्ति — उत्कृष्टता से कहते हैं। प्रकर्षेण ब्रुवते जानन्तीत्यर्थः (गुवि) पारम्पर्येण प्रतिपादयन्ति (मेवृ.)

यह श्लोक परिकर अलंकार से विभूषित है। अनेक साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित! बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्गविधेः विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरूषोत्तमोऽसि।।25।।

अन्वय — विबुधार्चित! बुद्धिबोधात् त्वम् एव बुद्धः भुवनत्रशंकरत्वात् त्वम् शंकरः असि। धीर! शिवमार्गविधेः विधानात् धाता असि। भगवन्! त्वम् एव व्यक्तम् पुरूपोत्तम असि।

अनुवाद — हे विबुधों (देवों) के द्वारा अर्चित! बुद्धि बोध (केवल ज्ञान प्रकाश) से तुमही बुद्ध हो। त्रैलोक्य के कल्याण साधक होने से तुमही शंकर हो। हे धीर! मोक्ष मार्ग (रत्नत्रय) रूप विधि के विधान कर्ता होने से तुमही विधाता हो। हे भगवन्! तुम ही प्रकट रूप से पुरुपोत्तम हो।

व्याख्या — विवुधार्चित! वुद्धिबोधात् त्वम् एव वुद्धः — हे विवुधों— देवों अथवा इन्द्रों के द्वारा पूजित! केवलज्ञान के प्रकाश से तुम ही वुद्ध हो अथवा धर्म मे वुद्धि प्रकट होने से एकमात्र तुमही वुद्ध हो। इसमें

काव्यलिंग की छटा विद्यमान है। साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकर, अन्यदेवों से ऋषभ की श्रेष्ठता प्रतिपादित होने से व्यतिरेक अलंकार है।

विबुधार्चित — सम्बोधन पद मानने पर भगवान् ऋषभ का विशेषण बनता है। कुछ टीकाकार 'विबुधार्चितबुद्धिबोधात्' को एक पद मानते हैं। अर्थात् जिसका केवलज्ञान विबुधों के द्वारा अर्चित है इसलिए तुम बुद्ध हो।

अर्थात् तुमही सर्वज्ञ हो। अथवा विशिष्ट पुरुषों-गणधरों के द्वारा जिनका केवलज्ञान रूप बोध पूजित है इसलिए बुद्ध हैं।

त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् — संसार का कल्याण करने से वास्तव में तुमही शंकर हो। पौराणिक देव भगवान् शंकर रूद्र, कपाली, नग्न आदि भयंकर रूप वाले हैं, इसलिए वास्तविक शंकर तुमही हो क्योंकि तुम केवल जगत् का कल्याण करते हो। भगवान् ऋषभ की शंकर से श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है।

धाताऽपि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानाद् — रत्नत्रयरूप (मोक्षमार्ग रूप) नियोग के विधान करने से वास्तव में हे धीर तुमही धाता हो, ब्रह्मा हो। पुराणों में प्रसिद्ध सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा शिव और अशिव दोनों मार्गो का निर्माण करता है। लेकिन आप केवल शिवमार्ग (मुकितमार्ग) के निरूपक है।

व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरूषोत्तमोऽसि — हे भगवन्! स्पष्ट रूप से आप ही पुरुषोत्तम है। राम और श्रीकृष्ण का पुरूषोत्तमत्व अधुरा है क्योंकि राम ने वाली बधादि प्रसंग में तथा श्रीकृष्ण ने बलि को छलने तथा गोपी प्रसंग में छल का आश्रय लिया है। जिससे उनका पुरुषोत्तमत्व खण्डित हो जाता है। आप ही केवल पुरुषोत्तम हैं। उत्कृष्ट पुरूषो में उत्तम हैं।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय।।26।।

अन्वय — नाथ! त्रिभुवनार्तिहराय तुभ्यं नमः क्षिति-तलामलभूषणाय तुभ्यं नमः त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमः जिन! भवोदधिशोषणाय तुभ्यं नमः।

अनुवाद — हे नाथ! तीनों लोकों की पीड़ा को हरने वाले आपको नमस्कार है, पृथ्वीतल के निर्मल अलंकार स्वरूप आपको नमस्कार है, तीनों लोकों के स्वामी आपको नमस्कार है; हे जिन! संसार समुद्र को शोषण करने वाले आपको नमस्कार है।

व्याख्या — त्रिभुवनार्तिहराय नाथ! तुभ्यंनमः — संसार के समस्त दुःखों को हरण करने वाले हे नाथ! आपको नमस्कार है। इस पद के द्वारा भगवान् ऋषभ के संसारिक दुःख विनाशक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।

क्षितितलामलभूषणाय तुभ्यं नमः — धरती तल के अमलभूषण आपको नमस्कार है। धरती पर जितने भी विभूषण पदार्थ है वे कालुष्य कल्मष और मलयुक्त हैं लेकिन भगवान् अमल हैं।

त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमः — तीनों लोकों के स्वामी आपको नमस्कार है। इस पद से भगवान् की श्रेष्ठता प्रतिबिम्बित है। जिन! भवोदधिशोषणाय तुभ्यं नमः — हे जिन! संसार-समुद्र को शोषित करने वाले, समाप्त करने वाले भगवान् आपको नमस्कार है। इस पद के द्वारा भगवान् के भवविदारक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार के भाव अनेक स्तोत्रो में उपलब्ध होते हैं। नमस्कारात्मिका भकित का उत्कृष्ट उदाहरण इस श्लोक में मिलता है।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीशः!
दोषैरुपात्त-विविधाश्रय-जातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।।27।।

दोषैः — दोषों के द्वारा

कदाचिदपि — कभी भी, किसी भी अवस्था में। जाग्रत काल की बात कौन कहे स्वप्नान्तरे अपि — स्वप्न में भी वे दोष आपको नहीं देखते हैं।

गुण और दोष भाव पदार्थ हैं। कवि ने क्रमशः आश्रय करना और देखना दो क्रियाओं का प्रयोग किया। ये दोनों क्रियाएं मूर्त्त कर्ता के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। यहां पर भाव पदार्थ-गुण-दोष पर मूर्त्त कर्त्तव्य का आरोप किया गया है — यह उपचार वक्रता का श्रेष्ठ उदाहरण है। विविध आश्रय प्राप्त होने के कारण दोष गर्व युक्त हैं इसलिए भगवान् को देखते भी नहीं हैं — इसमें कारण परम्परा अंलकार है। नहीं देखने का कारण गर्व युक्त होना, गर्वयुक्त होने का कारण बहुतों का आश्रय प्राप्त होना है। को विस्मयोऽत्र? — क्या विस्मय है? अर्थात् कुछ भी नहीं — यहां पर अर्थापत्ति अलंकार है।

उच्चैरशलोक-तरु-संश्रित-मुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत् किरणमस्त-तमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव-पयोधर-पार्श्ववर्ति।।28।।

अन्वय — उच्चैः अशोकतरुर्संश्रितम् उन्मयूखम् रूपम् स्पष्टोल्लसत्किरणम् अस्ततमोवितानम् पयोधर पार्श्ववर्ति रवेः बिम्बमिव नितान्तम् आभाति।

अनुवाद — उच्चे अशोक वृक्ष के आश्रित (नीचे छाया में स्थित) ऊपर की ओर जाने वाली किरणों से युक्त आपका अमलरूप स्पष्टरूप से उल्लसित किरणो से युक्त, अन्धकार समूह को समाप्त करने वाले तथा मेघ के पार्श्ववर्ति (निकटस्थित) सूर्य के विम्ब के समान सुशोभित हो रहा है।

व्याख्या — इसमें भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन है।

भगवान् का अमल रूप सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है। इसमें उपमालंकार है। सूर्य का प्रतिबिम्ब कैसा है — जिसने समस्त तमोवितान को समाप्त कर दिया है। इस पद से भगवान् में पापाभाव द्योतित हो रहा है। त्याग, तपस्या से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है तदनन्तर ज्ञान-प्रकाश शरीर से प्रस्फुटित होता है — चतुर्दिक व्याप्त होता है — यह तथ्य ध्वनित हो रहा है।

सिंहासने मणिमयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद् विलसदंशुलता-वितानं,
तुंगोदयाद्रि-शिरसीव सहस्त्ररश्मेः।।29।।

अन्वय — मणिमयूखशिखाविचित्रे सिंहासने कनकावदातम् तव वपुः तुंगोदयाद्रिशिरसि वियद्विलसदंशुलतावितानम् सहस्त्ररश्मेः बिम्बम् इव विभ्राजते।।

अनुवाद — मणियो की किरणों के अग्रभाग से विचित्र सिंहासन पर सुवर्ण के समान गौर आपका शरीर उन्नत उदयाचल पर्वत शिखर पर आकाश में सुशोभित किरण रूप लता-विस्तार से युक्त सूर्य के बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है।

व्याख्या — प्रस्तुत श्लोक में भास्मान् सूर्य को उपमान बनाकर भगवान् की शारीरिक दीप्ति, तेज, प्रकाश और भास्वरता का उद्घाटन किया गया है।

मणिमयूखशिखाविचित्रैः — रत्नकिरणों के अग्रभाग से नानावर्ण वाला, रत्नकान्ति से सुशोभित।

सिंहासने — सिंहासन पर, सोने के सिंहासन पर (गुवि.) सिंह से उपलक्षित आसन पर। सिंहोपलक्षितं आसनं सिहासनं तस्मिन्।

कनकावदातम् — सोने के समान गौर।

कनकवत् अवदातम् स्वर्णवत् पीतम् (मेवृ.) हेमगौरम् (गुवि.)।

अवदात — यह अनेकार्थक शब्द है — अवदातं तु विमले मनोज्ञे सितपीतयोः इत्यनेकार्थः (मेवृ.) यहा पीत (गौर) अर्थ ग्राह्य है। अर्थात् कनक के समान गौर।

तव वपुः — तुम्हारा शरीर। वपु शब्द शरीर का पर्याय है।

तुंगोदयाद्रिशिरसि — उन्नत उदयाचल पर्वत शिखर पर अथवा पूर्वाचल शिखर पर।

वियद्विलसदंशुलता वितानम् — आकाश में विलसित किरण रूप लता विस्तार से युक्त। यह सूर्य बिम्ब का विशेषण है। अंशुलता में रूपक अलंकार है।

सहस्ररश्मेः बिम्बम् इव विभ्राजते — सूर्य के बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है।

विभ्राजते — सुशोभित होता है। भाति, शोभते। उपमा अलंकार है। भगवान् के शरीर की उपमा सूर्य से दी गई है।

कनकावदतम् में भी उपमा है। सोने के समान गौर शरीर। शरीर की उपमा सोने से दी गई। भगवान् ऋषभ के शरीरिक सौन्दर्य परक प्रस्तुत श्लोक की तुलना कृष्णविषयक स्तुतियों से की जा सकती है। अगले श्लोक मे भी शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन है—

कुन्दावदात-चलचामर-चारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशांक-शुचि निर्झर-वारिधार-
-मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्।।30।।

अन्वय — कुन्दावदातचलचामरचारूशोभम् कलधौतकान्तम् तव वपुः उद्यच्छशांक शुचिनिर्झरवारिधारम् सुरगिरेः शातकौम्भम् उच्चैस्तटम् इव विभ्राजते।

अनुवाद — कुन्द (चमेली पुष्प) के समान गौर वर्ण और चंचल चंवरों की चारु शोभा से युक्त एवं सुवर्ण के समान कान्ति वाला तुम्हारा शरीर उदीयमान चन्द्रमा के समान उज्ज्वल निर्झरों के जल प्रवाह से युक्त मेरु पर्वत के सुवर्णमय शिखर के समान सुशोभित हो रहा है।

व्याख्या — यहां पर उपमानों की लड़ी जैसी बंधी है। भक्त कवि मानतुंग की काव्यप्रतिभा इस श्लोक में निखरकर सामने आई है। नवीन अर्थो की संकल्पना में समर्थ प्रज्ञा ही काव्यत्व का हेतु है जिसे मम्मट ने शक्ति कहा है — शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां बिना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।

— काव्य प्रकाश प्रथम उल्लास

प्रस्तुत श्लोक में चंवरों की निर्झरों से एवं भगवान् के शरीर की उपमा मेरुशिखर से दी गई है।

कुन्दावदात चलचामर चारूशोभम् — कुन्द (चमेली) पुष्प के समान गौर वर्ण के चंचल चंवरों की कमनीय शोभा से युक्त। यह भगवान् के शरीर का विशेषण है। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ऋषभ के अगल-बगल देव लोग एकत्रित होकर उनकी सेवा के निमित चंवर डुलाया करते थे। देवों द्वारा डुलाये जाने के कारण वे चंवर चंचल थे। कुन्द — चमेली पुष्प विशेष जिसकी श्वेतता एवं सुगन्धी जगत्प्रसिद्ध है।

कलधौत कान्तम् — सोने के समान मनोहर। कलधौत — जगमगाता हुआ सोना। कान्त — रूचिर, मनोज्ञ, मनोहर यह पद भी भगवान् के शरीर का विशेषण है।

उद्यच्छशाक शुचिनिर्झरवारिधारम् — उगते हुए चन्द्रमा के समान श्वेत निर्झरो की धारा से युक्त। यह सुरगिरी (मेरूपर्वत) का विशेषण है।

शातकौम्भम् — सुवर्ण (सुर्णमय)। यह मेरूशिखर का विशेषण है। शतकुम्भ नामक पर्वत से सुवर्ण उत्पन्न होता है। इसलिए 'शतकुम्भे पर्वते भवम्' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होकर शातकौम्भम् होता है।

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त
मुच्चैः स्थितं स्थगित-भानुकर-प्रतापम्।
मुक्ताफल-प्रकरजाल-विवृद्धशोभं
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।31।।

अन्वय — शशांककान्तम् मुक्ताफल प्रकरजालविवृद्धशोभम् उच्चैः स्थितम् स्थगितभानुकर प्रतापम् तव छत्रछत्रयम् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् प्रख्यापयत् विभाति।

अनुवाद — चन्द्रमा के समान सुन्दर, मुक्ताफल (मोतियो) के समूह की रचना से संबर्धित शोभावाला, ऊच्चे (माथे के ऊपर) स्थित, सूर्य की किरणों के प्रताप (ताप) को रोकने वाला आपका छत्रत्रय (मानो) तीनों लोकों के महाधिपत्य को कहते हुए सुशोभित हो रहा है।

शशांककान्तम् — चन्द्रमा के समान मनोहर। यह छत्रत्रय का विशेपण है। धर्म देशना के समय भगवान् ऋपभ मणिमय सिंहासन पर विराजमान थे। प्रसिद्धि है कि 24 सेवक 48 चवरों को डुलाया करते थे। भगवान् के ऊपर तीन छत्र (एक के ऊपर दूसरा, दूसरे के ऊपर तीसरा छत्र) विद्यमान थे। मानतुंग उसी का चित्रण अपने स्तोत्रकाव्य में कर रहे हैं।

उच्चैः स्थितम् — ऊपर स्थित, माथे के ऊपर स्थित। उच्चै ऊर्ध्वं मूर्ध्नि स्थितमित्यर्थः। स्थगितभानुकर प्रतापम् — सूर्य के प्रताप को आच्छादित करने वाला।

छत्रत्रयम् — तीन आतपावाग्क, छत्ते। छत्रत्रयम् — आतपवारणत्रितयम्।

त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् — तीनों लोको के परमेश्वरत्व - श्रेष्ठत्व को। त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् तस्य (द्विगु) परमश्चासौ ईश्वरश्च (कर्म०) परमेश्वरस्य भावः परमेश्वरत्वः तत्। प्रकृष्ट-प्रभुत्वम्। सवश्रेष्ठ प्रभुता को।

प्रख्यापयत् — निवेदित करते हुए। उद्घोषित करते हुए।

विभाति — सुशोभित होता है।

उपमा, उत्प्रेक्षा एवं काव्यलिंग अलंकारों की सुन्दर संयोजना के साथ-साथ माधुर्य गुण का मनोरम लास्य विद्यमान है। शशांककान्तान् में उपमा, मुक्ताफल के कारण जिसकी शोभा बढ़ गयी है, में काव्यलिंग तथा मानों जगत् की श्रेष्ठता को सूचित करता है, में उत्प्रेक्षा अलंकार है। ङ्क, न्त, आदि माधुर्यव्यंजक ध्वनियां हैं। माधुर्यव्यंजकवक्रता के लिए देखें — भक्तामर संदोह पृ० — 53।

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग
स्त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्।
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी।।32।।

अन्वय — ते यशसः प्रवादी गम्भीरताररवपूरित दिग्विभागस्त्रैलोक्य लोक शुभसंगमभूतिदक्षः सद्धर्मराजजय घोषण घोषकः सन् दुन्दुभिःखे ध्वनति।

अनुवाद — आपके यश को कहने वाला, गंभीर तथा ऊच्चे स्वर से सम्पूर्ण दिशा मण्डल को आपूरित करने वाला एव तीनों लोकों के प्राणियों का शुभ-समागम रूप विभूति देने में दक्ष (संगम कराने मे कुशल) तथा सद्धर्मराज्य की जय घोषण को घोषित करता हुआ दुन्दुभि आकाश मे बज रहा है।

व्याख्या — इस श्लोक में समवसरणकालीन बजने वाले नगाड़ों,

दुन्दुभियों आदि वाद्य-यन्त्रों की ओर निर्देश है, जो भगवान् की महिमा के संगीत को ही दिशाओं में अपनी ध्वनि के रूप में प्रसृत करते हैं। काव्य लिंग अंलकार है। घोषण घोषक में अनुप्रास है।

मन्दार सुन्दर नमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादि-कुसुमोत्कर-वृष्टिरुद्धा।
गन्धोदबिन्दुशुभ-मन्द मरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा।।33।।

अन्वय — गंधोदबिंदु शुभमंद मरुत्प्रपाता मन्दार सुन्दरनमेरु सुपारिजात सन्तानकादि कुसुमोत्कर वृष्टि रुद्धा दिवः पतति ते दिव्या वचसां ततिर्वा।

अनुवाद — भगवन्! गंधोदक की बून्दों से युक्त शुभ (प्रीतिकर) और मन्द पवन के साथ गिरने वाले मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक आदि कल्प वृक्षों के पुष्प-समूह की वृष्टि आकाश से हो रही है अथवा आपके दिव्य वचनों की पंकित ही (दिव्य पुष्पों के रूप मे) बरस रही है।

व्याख्या — भगवान् के समवसरण में जब दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगती है तो लगता है कि भगवान् की अमृतोपम वाणी ही पुष्पों के रूप में ऊपर से आ रही है अथवा यह उनकी वाणी का ही प्रभाव है। उदात्त अलंकार है। वाणी के प्रभाव का निरूपण होने से उदात्त है।

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोक-त्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकर निरंतर भूरिसंख्या-
दीप्त्या जयत्यति निशामपि सोमसौम्याम्।।34।।

अन्वय — प्रोद्यत्दिवाकर निरंतर भूरि संख्या सोमसौम्या विभोः! ते शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती दीप्त्या निशामपि जयति।

अनुवाद — हे विभो! आपके (देह से निःसृत) दीप्त आभामण्डल की अतिशय विभा (प्रकाश) जो देदीप्यमान, सघन और अनेक संख्या वाले सूर्य के समान है तथा चन्द्रमा के समान सौम्य है, सम्पूर्ण लोकों में द्युतिमान् (प्रकाशमान) पदार्थों की द्युति को तिरस्कृत करती हुई अपनी दीप्ति से रात्री को भी जीत लेती है।

स्वार्गाऽपवर्गगममार्ग-विमार्गणेष्टः
सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याम्।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थ सर्व-
भाषा स्वभाव परिणामगुणैः प्रयोज्यः।।35।।

अन्वय — ते स्वर्गापवर्गगममार्ग विमार्गणेष्टः त्रिलोक्यां सद्धर्मकथनैकपटुः विशदार्थ दिव्यध्वनिः सर्वभाषा स्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः भवति।

अनुवाद — हे प्रभो! स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले मार्ग को दिखाने वाली, समस्त त्रैलोक्य में सद्-धर्म के उपदेश मे एकमात्र दक्ष तथा विशद (गम्भीर) अर्थो से युक्त आपकी वाणी सभी (लोगों की) [illegible] स्वभाविक रूप से परिणत होने के गुण से युक्त होती है, [illegible] द्वारा प्रयोज्य होती है। (अर्थात् सब आपकी [illegible])।

उन्निद्रहेम-नवपङ्कज[illegible],
पर्युल्लसन् नख-[illegible]।
पादौ पदानि तव [illegible]
पद्मानि तत्र [illegible]

अन्वय — जिनेन्द्र! उन्निद्रहेमनव पङ्कजपुञ्जकान्तिः पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ तव पादौ यत्र पदानि धत्तः तत्र विबुधाः पद्मानि कल्पयन्ति।

अनुवाद — हे जिनेश्वर! विकसित सुवर्ण के नये कमल समूह की कान्ति एवं उच्छलित नख प्रभा से अभिराम (मनोहर सुन्दर) तुम्हारे पैर जहां पर डग को रखते हैं, वहां पर देवगण कमलों की रचना करते हैं।

व्याख्या — इस श्लोक मे भगवान् ऋषभ की श्रेष्ठता एवं पूज्य रूप अभिव्यंजित हो रहा है। भगवान् जहां-जहां पैर रखते हैं वहां-वहां देवलोग कमलों की रचना करते हैं यानि पुष्प विखेरते हैं। आज भी यह प्रथा प्रचलित है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जहां पैर रखते हैं वहां पर उनके भक्तगण पहले से ही पुष्प विछा देते हैं। यह प्राचीनकालीन (पुष्पविखेरने की) परम्परा आज भी प्रचलित है।

उन्निद्रहेम — अभिरामौ-खिले हुए सोने के नवीन कमल समूह की कान्ति एवं उच्छलित नख-किरणाग्र भाग से अभिराम (सुन्दर) अथवा खिले हुए सुवर्ण के नवीन कमल-समूह से अभिराम (सुन्दर)। यह भगवान् के पैरों (पादौ) का विशेषण है। उद्गता निद्रा येषां तानि उन्निद्राणि-विकस्वराणि, सुवर्णस्य नवानि-नूतनानि नवसंख्यकानि वा यानि पंकजानि कमलानि हेमनवपंकजानि, उन्निद्राणि च तानि हेमनवपंकजानि च उन्निद्रहेमनवपंकजानि।

तेषां पुञ्जः - समूहस्तस्य प्रभा तथा पर्युल्लसन्तो वृद्धिं गच्छन्तो ये नखानां मयूखा-कराः, तेषां शिखा अग्राणि ताभि अभिरामौ — मनोहरौ।

यत्र पदानि धत्तः — जिस भूमि पर डग रखते हैं। यत्रभूमौ पदानि गमनेऽवस्थानरूपाणि धत्तः — धारयतः (गु.वि.)।

तत्र विवुधा पद्मानि कल्पयन्ति — वहां पर देवगण कमलों की रचना करते थे।

कल्पयन्ति — रचयन्ति निर्मापयन्तीत्यर्थः।

विकसित सुवर्ण पंकज से संबर्धित नखप्रभा और नखप्रभा से अभिराम पैर — कारणपरम्परा अलंकार। ओजगुण की प्रधानता है। अतिशयोकित अलंकार भी है।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र!
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक्कुतो ग्रह-गणस्य विकाशिनोऽपि।।37।।

अन्वय — जिनेन्द्र! इत्थं तव धर्मोपदेशन-विधौ यथा विभूतिः अभूत् तथा परस्य न। दिनकृतः प्रभा यादृक् प्रहतान्धकरा तादृक् विकासिनः अपि ग्रहगणस्य कुतः?

अनुवाद — हे जिनेन्द्र! इस प्रकार (पूर्व में वर्णित) धर्म-व्याख्यान (उपदेश) के समय तुम्हारी जैसी विभूति (अतिशय समृद्धि) हुई वैसी अन्य (हरिहरादि देवों) की नही हुई। सूर्य की जैसी अन्धकार को नष्ट करने वाली प्रभा होती है वैसी (प्रभा) उदित (प्रकाशित) तारागणों में कहां?

व्याख्या — व्यतिरेक, उदात्त और दृष्टान्त अलंकार के माध्यम से प्रभु की महनीयता का प्रतिपादन किया गया है। इत्थं — पूर्वोक्त प्रकार से। पूर्व श्लोको - उच्चैरशोक०, सिंहासने०, कुन्दावदात०, छत्रत्रयं०, आदि में भगवान् की विभिन्न विभूतियो का वर्णन है। इत्थं पद इन सबकी ओर निर्देश कर रहा है। हरिहरादिदेवों से ऋषभ की श्रेप्ठता प्रतिपादित है, इसलिए व्यतिरेक अलंकार है। जिनेन्द्र-सूर्य, हरिहरादिदेव (परस्य) — ग्रहगण में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है, अतएव दृष्टान्त अलंकार। ग्रहगणस्यकुतः? में अर्थापत्ति तथा विभूतिवर्णन होने से उदात्त अलंकार एवं संकर, संसृष्टि भी है।

श्च्योतन् मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्त भ्रमद-भ्रमरनाद-विवृद्धकोपम्।
ऐरावताभमिभ-मुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्।।38।।

अन्वय — (भगवन्)! भवदाश्रितानाम् श्च्योतन्मदाविलविलोल-कपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ऐरावताभम् आपतन्तम् उद्धतम् इभम् दृष्ट्वा भयं नो भवति।

अनुवाद — हे भगवन्! आपके आश्रित भक्तों को (सभी स्थानों से मद) झरने के कारण कलुषित, चंचल कपोलों के मूल में स्थित, मत्त एवं भ्रमणशील भौरों के नाद से संबर्धित कोपवाले तथा ऐरावत के समान उद्धत आते हुए (अपने ऊपर आक्रमण करते हुए) हाथी को देखकर भी भय नहीं होता है।

व्याख्या — इस श्लोक में शरणागतिभक्ति का स्वरूप वर्णित है। प्रभु-शरणागति से संसार के सभी प्रकार के भय समाप्त हो जाते हैं। स्तोत्रकार ने हाथी के ब्याज से आधिभौतिक, अधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों दुखों से उत्पन्न भय की ओर निर्देश किया है अर्थात् सभी प्रकार के भय भी भयभीत होकर भाग जाते हैं। भागवतकार ने इस ओर निर्देश किया है।

प्रभुपाद की जो शरणागति ग्रहण कर लेते हैं उन्हें किसी प्रकार के क्लेश बाधित नहीं करते हैं —

शरीरा मानसा दिव्या वैयासै ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम्।।

भा पु 3 23 37

अर्थात् जो पुरुप अपने आपको भगवान् के शरण मे समर्पित कर देता है उसको शारीरिक, मानसिक, दैविक, मनुष्यप्रदत्त और प्राकृतिक किसी

प्रकार के क्लेश बाधित नहीं करते हैं।

प्रभु शरणापन्न भक्त को यमराज की संस्पर्श नहीं कर सकते हैं —

यत्र निविष्टशरणं कृतान्तो नाभिमन्यत।
विश्वं विध्वंसयन् शौर्य-वीर्यविस्फूर्जित भ्रुवा।।

भा पु. 4 24 56

इस श्लोक में काव्यलिंग, कारण परम्परा आदि अलंकारो की उपस्थिति है। विभावना और विशेषोक्ति भी है।

भिन्नेभकुम्भ-गलदुज्ज्वल-शोणिताक्त-
मुक्ताफल-प्रकर-भूषित-भूमिभागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते।।39।।

अन्वय — भिन्नेभकुम्भगलदुज्जवल शोणिताक्त मुक्ताफलप्रकरभूषित भूमि-भागः बद्धक्रमः हरिणाधिपः अपि क्रमगतम् ते क्रमयुगाचलसंश्रितम् न आक्रामति।

अनुवाद — हाथियो के विदीर्ण गण्डस्थल से गिरते हुए उज्जवल (रक्तश्वेत) वर्ण के रुधिर से व्याप्त मौक्तिक-समूह से भूमिभाग (धरती) को भूषित करने वाला एवं आक्रमण के लिए तैयार सिंह भी फल प्राप्त (पंजे में आए हुए), आपके चरण का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर आक्रमण नहीं कर सकता है।

व्याख्या — इस श्लोक में यह निर्दिष्ट है कि जिसने आपके चरणों का आश्रय ले लिया उसको क्रोधोन्मत्त भयंकर सिंह भी कुछ विगाड नही सकता है। वडे-बड़े दर्पोद्दाम हाथियों के मस्तक को विदारण करने वाला सिंह प्रभु-प्रभाव से वाधित हो जाता है। सिह मानव-लोभी होता है। सिंह

आक्रमण के घेरे में आया हुआ व्यक्ति भी यदि आपका भक्त है तो सिंह उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता है। मृत्यु-भय समाप्त हो जाता है।

बद्धक्रमः — जिसने परिकर बांध लिया है, चौकड़ी बांध ली है अथवा आक्रमण के लिए तैयार अथवा जिसके पाद-विक्षेप भगवत्प्रभाव से बंध गए हैं, अवरुद्ध हो गए हैं अथवा आपके प्रभाव से जिसका पराक्रम बद्ध गया है, कीलित हो गया है। यह सिंह का विशेषण है।

हरिणाधिपः — सिंह, पशुओं का स्वामी।

हरिण — पशु।

क्रमगतम् — सिंह के पंजे में प्राप्त। भगवदाश्रित भक्त यदि सिंह के पंजे में भी पड़ जाए तो भी सिंह उसका कुछ विगाड़ नहीं सकता है। सिंह हिंसाजीवों का उपलक्षक है, मृत्यु का द्योतक है। जब मृत्यु सामने भी हो तो भी तुम्हारे भक्तों का कुछ नहीं बिगड़ता है। आपका चरण-दास, शरण मे आया हुआ जीव हमेशा के लिए मृत्यु भय से उपरत हो जाता है। प्रभु चरण शरणागति से सभी प्रकार के भय समाप्त हो जाते हैं या यह भी सत्य है कि मनुष्य को तभी तक संसारिक भय सताते हैं जब तक प्रभु चरण मे शरणागति को नहीं प्राप्त कर लेता है। भागवत पुराण में शरणागति से सम्बद्ध बहुत अच्छा श्लोक उधृत है —

> तावद्भयं द्रविणगेह सुहृन्निमित्तं
> शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
> तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
> यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः।।

भा पु 396

अर्थात् जव तक पुरुप प्रभु के अभयप्रद चरणारविन्दों को आश्रय नहीं लेता, तभी तक उसे धन, घर और वन्धुजनों के कारण प्राप्त होने वाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभी तक उसे मैं मेरेपने का दुराग्रह रहता है, जो दुःख का एकमात्र कारण है।

इसमें काव्यलिंग, कारणपरम्परा विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकार हैं। कुम्भ के विदारण से रक्त गिरना, उसे मुक्ताफलों का विलिप्त होना तथा मुक्ताफलों का भूमि पर गिरना — कारण परम्परा, आक्रमण के लिए तैयार - कारण है — आक्रमण रूप कार्य नही हुआ इसलिए विशेषोक्ति, भय का अभाव कार्य है लेकिन भय के अभाव का कारण हिंस्रादि जीवों का अभाव नहीं है इसलिए विभावना अलंकार है।

कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-वह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्।।40।।

अन्वय — त्वन्नामकीर्तनजलम् कल्पान्तकाल पवनोद्धत-वह्निकल्पम् ज्वलितम् उज्ज्वलम् उत्स्फुलिङ्गम् विश्वम् जिघत्सुम् इव सम्मुखम् आपतन्तम् अशेषम् दावानलम् शमयति।

अनुवाद — तुम्हारा नाम कीर्तन रूप जल प्रलयकालीन पवन से उद्धत (सर्वत्र व्याप्त) अग्नि के समान दीप्त, उज्ज्वल, लपलपाते हुए स्फुलिङ्गों से युक्त, मानो संसार को ग्रसित करने के लिए लालायित एवं सम्मुख (शीघ्र) आते हुए सम्पूर्ण दवानल को शान्त कर देता है।

व्याख्या — इस श्लोक में नामकीर्तन का महत्त्व-प्रतिपादित है।

त्वन्नामकीर्तनजलम् — तुम्हारा नाम कीर्तन रूप जल। त्वदभिधान स्तवनघननीरम् (गु.वि.) भवदभिधानस्य यत् कीर्तनं — स्तवनं तल्लक्षणं जलं — पानीयम् (मे.वृ.)। त्वन्नाम्नः कीर्तनं त्वन्नामकीर्तन जलम् — त्वदभिधानस्तवननीरम् (कवृ)। इस पद में रूपक अलंकार है। नामकीर्तन और जल में अभेदारोप है।

नामकीर्तन का प्रभाव सर्वविदित है। अन्य स्तोत्रों में भी यह ध्वनि मिलती है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भक्त कहता है कि हे प्रभो! तुम्हारे पवित्र गोत्रनाम के श्रवण से विपत्ति रूप सर्पिणी न जाने कहां भाग जाती है।

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश!
मन्ये न मे श्रवण गोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्र मन्त्रे
किंवा विपद्विषधरी सविधं समेति।।

कल्याणमंदिर - 35

प्रभु नाम कीर्तन सांसारिक भय को शीघ्र ही समाप्त कर देता है:-

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशोगृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्विभेति स्वयं भयम्।।

भा.पु. 1 1 14

अर्थात् घोर संसृति (संसार) चक्र में फंसा हुआ जीव विवशता से भी प्रभु नाम का कीर्तन करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है तथा स्वयं भय भी भयभीत हो जाता है। नामकीर्तन के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला एक उत्कृष्ट पद्य अधोविन्यस्त है —

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्
तदेव शोकार्णव शोषण नृणां
यदुत्तमश्लोक-यशोऽनुगीयते ।।

(भा. पु 12 12 49)

अर्थात् जिस वचन के द्वारा भगवान् के परम पवित्र यश का गायन होता है, वही परमरमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्त काल तक परमानन्द की अनुभूति होती रहती है। मनुष्यों का

सारा शोक, चाहे वह समुद्र के समान गंभीर क्यों न हो उस वचन के प्रभाव से — प्रभु नाम कीर्तन के प्रभाव से सदा के लिए सुख जाता है। भागवतकार का तो यहां तक उद्घोष है कि चाहे कितना भी घोर पापी क्यों न हो प्रभु नाम कीर्तन से सद्यः मुक्त हो जाता है। नामोच्चारण के माहात्म्य से आजीवन पाप कर्मो में निमज्जित अजामिल भी सद्यः मुक्त हो गया।

ब्रह्महत्यारा, पितृहन्ता, गोहन्ता, माता एवं आचार्यहन्ता एवं नीच कुल में उत्पन्न सबके सब प्रभु नामकीतन से मुक्त हो जाते हैं —

ब्रह्महा पितृहा गोघ्ना मातृहाऽचार्यहाऽघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्धयेरन् यस्यकीर्तनात्।।

भा. पु. 6 13 8

उपमा अलंकार। दावानल की उपमा कल्पान्त काल में विविध पवनों से उद्वृद्ध अग्नि से दी गई है जो संसार को निगलने के लिए लालायित रहती है। जिघत्सुमिव में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

रक्तेक्षणं समदकोकिल-कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन-मुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः।।41।।

अन्वय — यस्य पुंसः हृदि त्वन्नामनागदमनी (स) निरस्तशङ्कः रक्तेक्षणम् समदकोकिलकंठनीलम् क्रोधोद्धतम् आपतन्तम् उत्फणम् फणिनम् क्रमयुगेन आक्रामति।

अनुवाद — जिस पुरुष के हृदय में तुम्हारे नाम रूपी नागदमनी होती है वह शंका रहित होकर लाल नेत्र वाले, मदयुक्त, कोयल के कंठ के समान काले, क्रोध से उद्धत, सम्मुख आते हुए एवं फण उठाये हुए सर्प

को अपने पैरों से उल्लंघन कर जाता है (घर्षित कर देता है)।

व्याख्या — यस्य पुंसः हृदि त्वन्नामनागदमनी — जिस पुरुष के हृदय में तुम्हारे नाम रूपी नागदमनी है। नागदमनी एक औषधि है जिससे भयंकर विषधर सर्प भी प्रभावहीन हो जाता है। भगवन्नाम सर्पदमनकारिणी विद्या के समान है। जैसे नागदमनी विद्या के प्रभाव से सर्प प्रभावहीन होता है उसी प्रकार भगवन्नाम के प्रभाव से संसार रूप सर्प का प्रभाव जाता रहता है। त्वन्नामैव नागदमनी — औषधिविशेषः जांगुलीविद्या वा (कवृ)।

निरस्तशंकः — अभय, शंकारहित। निरस्ताशंका येन स (बहु.)। भक्त का विशेषण है। नाम रूपी नागदमनी से भक्त अभय हो जाता है। काव्यलिंगालंकार। 'त्वन्नामनाग दमनी' में रूपक अलंकार है।

इस श्लोक में भी भगवन्नाम का महत्त्व प्रतिपादित है।

वल्गत्तुरंग-गजगर्जित-भीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूख-शिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात् तम इवाशु भिदामुपैति।।42।।

अन्वय — त्वत्कीर्तनात् आजौ वल्गत्तुरंग गजगजितभीमनादम् बलवताम् अरिभूपतीनाम् बलम् उद्यद्दिवाकर मयूखशिखापविद्धम् तमः इव आशु भिदाम् उपैति।

अनुवाद — आपके नामकीर्तन से युद्ध क्षेत्र में बलवान् शत्रु राजाओ की दौड़ते हुए घोड़ों और हाथियों के गर्जन से भयंकर नादयुक्त सेना भी उदीयमान सूर्य की किरणो के अग्रभाग से पराभूत (भागे हुए) अन्धकार के समान शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या — इसमें भी नामकीर्तन के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया

है। दृष्टान्त अलंकार के द्वारा इस महनीयता का उद्घोषण किया गया है। जैसे उदीयमान सूर्य की किरणों के अग्र भाग से ही अन्धकार विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्रभुनामकीर्तन से शत्रु सेना शीघ्र ही पराजित हो जाती है। नाम कीर्तन एवं सूर्य में तथा सेना और अन्धकार में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

कुन्ताग्रभिन्नगज–शोणितवारिवाह–
वेगावतार–तरणातुरयोध–भीमे
युद्धे जयं विजित–दुर्जय–जेय–पक्षा–
स्त्वत्पाद–पंकजवनाश्रयिणो लभन्ते।।43।।

अन्वय — त्वत्पाद पंकजवनाश्रयिणः कुन्ताग्रभिन्नगज–शोणितवारिवाहवे–गावतारतरणातुरयोधभीमे युद्धे विजितदुर्जयजेयपक्षाः (सन्तः) जयम् लभन्ते।

अनुवाद — तुम्हारे चरणस्वरूप कमलवन का आश्रय करने वाले पुरुष भाले के अग्रभाग से भिन्न मस्तक (विदारण) से प्रवाहित गजों के रक्त रूप जलप्रवाह में शीघ्र प्रवेश कर तैरने (पार करने) के लिए व्याकुल योद्धाओं से भयकर युद्ध में दुर्जेय शत्रुपक्ष को जितकर जय को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या — इसमें पादसेवन भक्ति का निरूपण है। प्रभु पादसेवन से, चरण-शरण से व्यक्ति सम्पूर्ण संसारिक शत्रुओ को परास्त कर देता है, विदलित कर देता है। दास्यभक्ति का स्वरूप भी उद्घाटित होता है। प्रभुदासो को मृत्यु भी भयभीत नहीं कर सकती है। यहां यह भी निर्दिष्ट है कि भक्ति से अतुल ऐश्वर्य-विभूति की प्राप्ति होती है, इसलिए भक्त प्रभुचरणपंकज को छोडकर मुक्ति की भी कामना नहीं करते।

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तार्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुत मेष मे वरः।।

अर्थात् मुझे तो मोक्ष पद की इच्छा नहीं है, जिसमें महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा निकला हुआ आपके चरणकमलों का मकरन्द नहीं है। इसलिए मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिए जिनसे आपके लीलागुणों को सुनता ही रहूं।।

पादसेवन का महत्त्व सर्वत्र संगायित है। जो भी रज, राग, विषाद मन्यु, मान, स्पृहा आदि से उत्पन्न विभिन्न व्याधियों के आश्रय संसार को छोड़कर प्रभु पाद का आश्रय ले लेता है वह सर्वथा भयरहित हो जाता है।

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु-
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम्।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताऽकुतोभयम्।।

भा पु. ५ १८ १४

जिसने भी प्रभु चरणों में अविच्छिन्न रति प्राप्त कर ली है वह परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है, वह वैसा सब कुछ प्राप्त कर लेता है जो इस मनुष्य योनि में सर्वथा दुर्लभ है —

इत्यच्युतांघ्रिं भजतोऽनुवृत्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्।।

भा पु 11 2 43

अम्भोनिधौ क्षुभित-भीषण-नक्र-चक्र-
पाठीन-पीठ-भयदोल्वणवाड़वाग्नौ।
रंगत्तरंग-शिखरस्थित-यानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति।।44।।

अन्वय — क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीन पीठभयदोल्बण वाडवाग्नौ अम्भोनिधौ रङ्गतरङ्ग शिखरस्थितयानपात्राः भवतः स्मरणात् त्रासम्, विहाय व्रजन्ति।

अनुवाद — भीषण मगर, घड़ियाल, पाठीन और पीठों से युक्त तथा भयोत्पादक प्रकट (विकराल) बड़वाग्नि में क्षुब्ध समुद्र में उच्छलित तरङ्ग-शिखरों पर स्थित जहाज वाले पुरुष आपके स्मरण से त्रास को छोड़कर (समुद्र को) पारकर जाते हैं।

व्याख्या — इसमें स्मरण भकित का निरूपण किया गया है। प्रभु-स्मरण से संसारिक भय सर्वथा समाप्त हो जाता है। संसार चक्र में जिसकी जीवन-नौका डूब रही है, प्रभु नाम-स्मरण से वह किनारे पर पहुंच जाती है। प्रभु-स्मरण संसारकूप में पतित व्यकित के लिए संतरण का समर्थ संसाधन है—

दृष्टं त्वांघ्रियुगलं जनतापवर्गं।
ब्रह्मादिभिर्हृद विचिन्त्य मगाध बोधैः।
संसारकूप पतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात्।

भा. *10 69 18*

पाठीन पीठ — मत्स्य भेद। समुद्र में पाए जाने वाली मच्छलियो के दो भेद — पाठीन और पीठ। काव्यलिंग अलंकार की रमणीयता विद्यमान है। भीषण नक्र-चक्र एवं बड़वाग्नि की विद्यमानता के कारण समुद्र भयंकर एवं क्षुब्ध हो रहा है।

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगता श्च्युत जीविताशाः।
त्वत्पाद-पंकज-रजोऽमृत-दिग्धदेहाः,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्यरूपाः।।45।।

अन्वय — उद्भूतभीषणजलोदर भारभुग्नाः शोच्याम् दशाम् उपगताः च्युतजीविताशाः त्वत्पादपंकजरजोमृतदिग्धदेहाः मकरध्वज तुल्यरूपाः भवन्ति।

अनुवाद — उत्पन्न भयंकर जलोदर (उदरवृद्धि) रोग के भार से वक्र (झुके हुए) शोचनीय दशा को प्राप्त, जीवन की आशा से रहित पुरुष तुम्हारे चरण-कमल के रजोमृत से शरीर को विलिप्त कर कामदेव के समान रूप वाले हो जाते हैं।

व्याख्या — इस श्लोक में भगवान् की चरण-रेणु का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। तीर्थकरों के, सिद्धों के, समर्थगुरुओं के, प्रभु के पादपंकजों की चरणधूलि से मरणासन्न, मृत्यु मुख का ग्रास बना हुआ व्यक्ति भी दुःख मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण शारीरिक व्याधियों से रहित होकर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। आज भी ऐसे अनेक महापुरुष हैं, जिनकी चरणधूलि से अनेक व्याधिपीड़ित व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं।

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः — उत्पन्न हो गया है भयंकर जलोदर रोग जिसको, उसके भार से वक्रीकृत। भुग्नाः — वक्रीकृता। कहीं-कहीं भग्ना भी पाठ मिलता है। भग्ना — मोटित, मोटिता (गुवि) इसलिए शोच्यांदशामुपगताः - दीन-दयनीय अवस्था को प्राप्त। च्युतजीविताशाः— जीवन आशा जिसकी समाप्त हो गयी है, वैसे पुरुष त्वत्पादपंकजरजोमृतदिग्धदेहाः— आपके चरण कमल के रेणु रूप अमृत से विलिप्त शरीर वाले होकर अथवा शरीर पर चरणरज का लेप लगाकर 'मकरध्वजतुल्यरूपाः- कामदेव के समान रूप वाले अथवा कमनीय कान्ति से युक्त हो जाते हैं।'

इस श्लोक मे रजोमृत में रूपक तथा आपकी चरणधूलि के लेप से मकरध्वज रूप की प्राप्ति हो जाती है यहां काव्यलिंगालंकार है। जिस प्रकार अमृत के पान या अभिपेक से सभी रोगों का विनाश हो जाता है उसी प्रकार भगवान् के चरणकमलों के आश्रय से भी व्याधियो का निरसन हो जाता है।

आपाद-कण्ठमुरु-श्रृंखल-वेष्टितांगाः,
गाढं बृहन्निगडकोटि-निघृष्टजंघाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत-बन्धभयाः भवन्ति।।46।।

अन्वय — आपादकण्ठम् उरुश्रृंखलवेष्टितांगाः गाढम् बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः मनुजाः त्वन्नाममन्त्रम् अनिशम् स्मरन्तः सद्यः स्वयं विगत-बन्धभयाः भवन्ति।

अनुवाद — पैर से कण्ठ तक (सम्पूर्ण शरीर) गंभीर लौह श्रृंखला से आवेष्टित अंगवाले, अत्यन्त बृहत् निगड (पदपाश, बेड़ियो) के अग्रभाग से घर्षित जंघावाले मनुष्य सदा तुम्हारे नाम (ॐ ऋषभाय नमः) रूप मन्त्र का स्मरण करते हुए सद्यः स्वयमेव (अपने द्वारा ही) बन्धभय से मुक्त हो जाते हैं।

व्याख्या — इसमें नाम-स्मरण एवं नाम-कीर्तन भकित का महत्त्व प्रतिपादित है। ब्रह्मज्ञानी शुकदेव ने सभी शास्त्रो का सार भगवन्नाम कीर्तन को ही माना है —

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।।

भा पु. 2111

अर्थात् जो लोग लोक-परलोक की इच्छा रखते हैं या विरक्त हैं और निर्भय मोक्षपद को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधको के लिए तथा योगसम्पन्न ज्ञानियों के लिए समस्त शास्त्रों का यही निर्णय है कि वे भगवान् के नामों का प्रेम से कीर्तन करें।

अनिशम् — निरन्तर लगातार, अविच्छिन्न रूप से। यह अव्यय पद है। इस श्लोक में काव्य लिंग अंलकार है।

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।47।।

अन्वय — यः मतिमान् तावकम् इमम् स्तवं अधीते तस्य मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसङ्ग्राम - वारिधिमहोदरबन्धनोत्थं भयम् भिया इव आशु नाशम् उपयाति।

अनुवाद — (हे अमेय महिमा वाले भगवन्!) जो विद्वान् पुरुष आपके (पूर्वोक्त) इस स्तव का पाठ करता है उसका उन्मत हाथी, सिंह, दावाग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर रोग तथा बन्धन से उत्पन्न भय भी मानो भयभीत होकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या — इस श्लोक में स्तव, स्तुति, स्तोत्र एवं प्रभु गुणगायन का महत्त्व प्रतिपादित है। समर्थ के, प्रभु के, जिनेन्द्रदेव के स्तोत्र पाठ से किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ भय समाप्त हो जाता है। भक्त की वाणी है कि स्तोता का भय भी उससे (स्तोता से) भयभीत होकर भाग जाता है। प्रभुचरण में जाकर उनके नाम-रूप-गुणात्मक स्तवों का गायन कर भक्त महान्विभूति को प्राप्त कर लेता है, उसे संसारिक भय क्या स्वयं मृत्यु भी भयभीत होकर न जाने किस देश में चली जाती है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि,
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे,
चोरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः।।

कल्याणमन्दिर - 9

स्तुति स्तोत्र से कुशल परिणाम की प्राप्ति होती है।

तेसिं अत्थाहिगमे, णियमेणं होई कुसल परिणामो।
सुंदरभावा तेसिं इयरम्मि वि रयण-णाएण।।

शिवमहिम्न स्तोत्र (38) में कहा है:-

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम्।।

अर्थात् यदि अनन्यभाव से विनम्र होकर देवताओं तथा मुनियोंद्वारा पूज्य, स्वर्ग तथा मोक्ष का एकमात्र साधन इस स्तोत्र का कोई भी पाठ करता तो वह शिव-सामीप्य प्राप्त करता है और किन्नरगण उसकी स्तुति करते पुष्पदन्त द्वारा विरचित यह स्तोत्र कभी व्यर्थ नहीं होता है। गजेन्द्र ग्राह मृत्यु पाश में फंसा हुआ है। वह प्राक्तन संस्कार वशात् प्रभु की नाम-ात्मक स्तोत्र से स्तुति करता है। 'गजेन्द्र-मोक्ष' नामक स्तोत्र का महत्त्व ापादित करते हुए भागवतकार कहते हैं—

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः।
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।
छन्दोमयेन गरुड़ेन समुह्यमान
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः।।

भा. पु. 8 3 31

जगन्निवास भगवान् ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। ाकी स्तुति सुनकर वेदमय गरुड़ पर सवार होकर चक्रधारी भगवान् बड़ी ाघ्रता से वहां चल पड़े जहां गजेन्द्र संकट में फंसा हुआ था। भगवान् वहां ाकर उसकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार स्तोत्र का महत्त्व सर्वस्वीकृत है।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। ओजगुण एवं विभूति ऐश्वर्य का

निरूपण है। प्रभुस्तवन में औदात्य एवं समृद्धि अभिव्यंजित है इसलिए उदात्त अलंकार भी है।

स्तोत्रस्त्रजं तव जिनेन्द्र! गुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिरवर्ण विचित्रपुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कंठगतामजस्त्रं
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मी:।।48।।

अन्वय — जिनेन्द्र! इह य: जन: भक्त्या मया तव गुणै: निबद्धाम् रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् कण्ठगताम् स्तोत्रस्त्रजं अजस्त्रम् धत्ते: तम् मानतुङ्गम् अवशा लक्ष्मी: समुपैति।

अनुवाद — इस संसार में जो व्यकित मेरे द्वारा भकितपूर्वक आपके गुणों से बनायी हुई अकारादि रुचिर वर्ण रूप विचित्रपुष्पों से युकत कण्ठ में पड़ी हुई इस स्तोत्र रूप माला को सदैव धारण करता है उस श्रेष्ठ पुरूष (मानतुंग) को (मोक्ष रूप) लक्ष्मी शीघ्र ही (विवश होकर) प्राप्त होती है।

व्याख्या — इस श्लोक में स्तोत्र के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् तथा स्तोत्रस्त्रजं' में रूपक अलंकार है।

अजस्त्रं — अहर्निशं, अनवरत।

अवशा — तद्गतचित्तवाली, विवश होकर, शीघ्र ही। टीकाकार मेघविजय ने अवशा को शीघ्रार्थक अव्यय भी माना है। अवशा शीघ्रार्थे अव्ययम्। अवशा व्याहृतचित्ता (मेवि)।

मानतुङ्गम् — प्रतिप्ठा प्राप्त को, जो मान प्रशंसा, चारित्रादि गुणों से उत्कृष्ट है उसको, आत्माभिमानी को। स्तोत्र रूप माला को जो कण्ठ में धारण करता है उसे अधिक प्रतिष्ठा मिलती है, उत्कृष्ट हो जाता है इसलिए वह मानतुंग वन जाता है। स्तोत्रकार का भी ध्वनन हो रहा है। इस पद में श्लेप अंलकार है।

****

ॐ

भक्तामर - सौरभ

तृतीय खण्ड

1. स्तोत्र, स्तोत्र साहित्य एवं मानतुङ्ग
2. भक्ति ओर भक्तासुर स्तोत्र
3 भक्तामर स्तोत्र में पयुक्त भगवन्नामों का विवेचन
4 भक्तामर स्तोत्र में अलंकार सौन्दर्य
5. संदर्भ–ग्रन्थ–सूची

स्तोत्र, स्तोत्रसाहित्य एवं मानतुङ्ग

1. **स्तोत्रः-व्युत्पत्ति एवं अर्थ** -- अदादिगणीय स्तुञ् (ष्टुञ्)[1] स्तुतौ धातु से ष्ट्रन्[2] प्रत्यय करने पर स्तोत्र शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है प्रशसा, स्तुति, नुति, प्रशस्ति, गुणकीर्तन, स्तव, स्तवन आदि। अमरकोशकार ने स्तुति और नुति को एकार्थक माना है – स्तव स्तोत्र स्तुतिर्नुतिः[3]। हलायुधकोशकार[4] ने भी अर्थवाद, प्रशसा, ईडा, नुति, विकत्थन, स्तव, श्लाघा, वर्णना आदि शब्दो को स्तुत्यर्थक स्वीकार किया है। वैजयन्ती कोश के अनुसार शस्त्र, साम और स्तोत्र स्तुत्यर्थक शब्द है।[5] बाणभट्ट ने शब्द रत्नाकार में प्रशसा, नुति, स्तोत्र, ईडा आदि को स्तुति अर्थ मे प्रयुक्त माना है।[6]

किसी समर्थ महापुरूष, ईश्वर, ब्रह्म, जिन, अर्हत, पूज्य, गुरु आदि के गुणो का कीर्तन स्तोत्र है। शिवमहिम्न स्तोत्र की व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है – 'स्तुतिर्नामगुणकथनम्'[7]।

जैनवाड्मय में स्तव, स्तोत्र, स्तुति आदि पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन सूत्र[8] मे एक प्रसग की चर्चा है, जिसमे शिष्य गुरु से पूछता है – थवयुईमंगलेण भंते। जीवे कि जणयई? भगवन्। स्तव और स्तुति मंगल से क्या प्राप्त होता है?

उत्तर -- नाणदंसणचारित्त बोहिलाभसंजणइ, णाणदसण चारित्तबोहलाभ सम्पन्ने ण य जीवे अंतकिरियं कप्पविभावाणोववत्तिग आराहणं आराहेइ।।

मूलाचार मे 'चतुर्विंशतिस्तव' के स्वरूप प्रतिपादन क्रम मे स्तव (स्तोत्र) के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है –

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च[9]।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ।।

अर्थात् ऋषभ, अजित आदि चौबीस तीर्थकरो के नाम की निरुक्ति के अनुसार अर्थकरना, उनके असाधारण गुणो को प्रकट करना, उनके चरणो को पूजकर मन–वचन–काय की शुद्धता से स्तुति करना स्तव कहलाता है। तात्पर्य है कि स्तव या स्तोत्र मे प्रभु नामो का कीर्तन, उनके गुणो का प्राकट्य तथा चरण श्रद्धा वांक्ष्य होती है। राजवार्तिककार ने स्तोत्र के गुणकीर्तनस्वरूप की ओर निर्देश किया है

चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थकरगुणानुकीर्तनम्[10]

अर्थात् तीर्थकर के गुणो का उत्कीर्तन स्तोत्र या स्तव कहलाता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भगवान् जिनेश्वर के विद्यमान गुणो के उत्कीर्तन को स्तुति, स्तवन और स्तोत्र कहा है –

सारा पुण थुई-थोत्ता गंभीरपयत्थ विरइया जे[11]।
सब्भूयगुणुक्कित्तण रूवा खलु ते जिणाणं तु।।

अर्थात् सारे आगमो का सार स्वरूप, गभीर पदार्थो से विरचित, जिनप्रभु के विद्यमान गुणो का उत्कीर्तन स्तुति–स्तोत्र होता है। जैसे रत्न (ओषधि विशेष) रोगी के विभिन्न रोगो ज्वर, शूल आदि को शान्त कर देता है, समाप्त कर देता है उसी प्रकार भावरत्न रूप स्तुति-स्तोत्र कर्म रूप ज्वर का विनाश कर देता है –

जरसमणाई रयणा अण्णाय-गुणा वि ते समिति जहा[12]।
कम्मज्जराई थुइमाइदा वि तह भावरयणा उ।।

एक आचार्य ने स्तोत्र के षड्विधलक्षणो का निर्देश किया है –

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः[13]।
विभूतिः प्रार्थना चेति षडविधं स्तोत्रलक्षणम्।

अर्थात् नमस्कार, आशीष, सिद्धांतानुसार कथन, शूरवीरता विभूति और प्रार्थना आदि छ प्रकार के लक्षणो से युक्त स्तोत्र होता है।

2. भक्तामर-स्तोत्र में स्तोत्र एवं स्तुत्यर्थक शब्द -- भक्तामरकारने स्तोत्र, स्तव आदि शब्दो का प्रयोग तो किया ही है, स्तोत्र के स्वरूप–परक पदो का उपन्यास भी किया है। दो बार स्तोत्र पद का – 1 स्तोत्रस्रजम् (48), 2. स्तोत्रे (2), स्तव का दो बार स्तवं (5,47) सस्तव का तीन बार–सस्तवनम् (8, 9) संस्तवेन (7) प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त स्तुत्यर्थक क्रियापदों का भी प्रयोग उपलब्ध है – प्रणम्य (1). संस्तुत (2), स्तोतुं (3), वक्तुं (4), अभिष्टुवन्त (10) आदि। स्तोत्र के स्वरूप [illegible] पदों का भी निर्देश है–

1. **जगत्त्रितचित्तहरैरुरुदारैः** (2) – इसमें स्तोत्र साहित्य की कमनीयता, रमणीयता, मनोहारिता आदि गुणों का समुद्घाटन हुआ है। भक्तहृदय के [illegible] [illegible] में संभृत स्तोत्रस्रग्वी मे निबद्ध [illegible] [illegible], मनोवेधक, वल्गु आदि गुणों से युक्त [illegible] [illegible] हैं।

2. **त्वन्नामकीर्तनजलम्** (36) – इस पद में स्तोत्र का मूल स्वरूप उद्घाटित होता है। भगवन्नामों, गुणों का कीर्तन स्तोत्र है, [illegible] [illegible], पुण्य, तृप्ति आदि की प्राप्ति होती है – [illegible]। टीकाकारों ने इस पद का अर्थ किया है – [illegible] भवद्[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

टीकाकारों की दृष्टि में स्तोत्र -- भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारो ने 'स्तोत्र' के स्वरूप का स्पष्ट संकेत किया है।

1. **स्तोत्रैः** - शक्रस्तवाद्यै.[17] स्तूयते एभिरिति 'नीदाम्व्शसू०' इति हैमसूत्रेण त्रट् प्रत्यय, करणे तृतीया[18], स्तवनै[19]।

2. **स्तवम् (5) स्तवम्** -- स्तुतिम्[20], स्तवम्-स्तोत्रम् स्तव स्तोत्र स्तुतिः नुति.[21] स्तवम्–स्तोत्रम्[22]।

3. **संस्तवेन** -- भवद्गुणोत्कीर्तनेन[23]।

4. **संस्तवनम्** -- स्तोत्रम् गुणरहस्योत्कीर्तनमिति यावत्[24]।

5. **स्तोत्रम्** (48) -- सस्तवनम्[25]।

अर्थात् स्तोत्र स्तव, स्तुति, कीर्तन, नुति आदि एकार्थक है। स्तोत्र मे प्रभु, ईश्वर आदि के गुणो का उत्कीर्तन वाक्ष्य होता है।

3. स्तोत्र और प्रार्थना -- प्रार्थना शब्द प्र उपसर्गपूर्वक 'अर्थ उपयाञ्चायाम्' धातु से युच् या ल्युट् प्रत्यय करने पर स्त्रीलिग मे बनता है, जिसका अर्थ है याचना, अनुरोध, निवेदन, कामना, इच्छा आदि। स्तोत्र प्रभु के गुणों के सगान का नाम है, प्रार्थना उन गुणो को अपने हृदय में धारण करनेकी सामर्थ्य की याचना का अपराभिधान है। स्तोत्र गुण–कथनात्मक एव कामनापरक भी होता है, लेकिन प्रार्थना मे कामना अवश्य रहती है। प्रार्थना मे हाथ जोडना, फैले हुए हथेलियो का परस्पर सश्लेष आदि हस्तमुद्राये काम्य है लेकिन स्तोत्र मे इनकी आवश्यकता नहीं पडती है। स्तोत्र ऊर्ध्वगमन का, आत्मारोहण का प्रथम सोपान है तो प्रार्थना द्वितीय अवस्थान। स्तोत्र मे ससारिक–कषायो का प्रक्षालन होकर हृदय खाली पड जाता है, प्रार्थना मे उस रिक्त हत्प्रदेश मे समर्थ प्रभु के महनीय गुण एक–एक कर प्रवेश करने लगते है।

4. स्तोत्र और उपासना -- उपासना शब्द उप उपसर्ग पूर्वक अदादिगणीय आस–उपवेशने[26] धातु से ल्युट् अथवा युच् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। उप उपसर्ग निकटता, संसक्ति, शक्ति, योग्यता, चेष्टा, प्रयत्न आदि अर्थो को अभिव्यंजित करने के लिए प्रयुक्त होता है। समर्थ के समीप बैठना, अपने आप को योग्य बनाना, तदाकार हो जाना, अपनी वृत्तियो को पूर्णतया समर्थ मे लगा देना उपासना है। उपासना मे उपसक (भक्त) पूर्वप्रार्थित समर्थ के गुणो को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। मुक्ति प्रयोजक विद्याओ मे उपासना का प्रमुख स्थान है। मुण्डकोपनिषद मे लिखा है--

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा[27]
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।

यहां पर उपासना शब्द चित्तैकाग्रता का द्योतक है। आचार्य शंकर ने भाष्य मे उपासना शब्द का अर्थ 'अनवरत ध्यान' किया है -- उपासा सन्तताभिध्यानेन[28]। वेदान्तसार मे आत्मविद्या के अधिकारी के लिए 'उपासना' को अनिवार्य माना है – नित्यनैमित्तिक-प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन[29]। उपासना की परिभाषा मे योगीन्द्र सदानन्द ने लिखा है – उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमान- सव्यापाररूपाणि शाण्डिल्य विद्यादीनि[30] अर्थात् सगुण ब्रह्म मे मानस व्यापार को स्थिर कर देना उपासना है। तात्पर्य है कि मन को अपने इष्ट में, आत्मा मे, ईश्वर मे, स्थिर करना, उसके समीप हो जाना उपासना है।

इसमे भावो की प्रधानता होती है अर्थात् उपासक अपने सम्पूर्ण भावो अपने लक्ष्य मे स्थापित करता है। स्तोत्र मे अभिव्यक्ति, शब्दोभिव्यक्ति की प्रधानता होती है। उपासना प्रभु चरणों मे समग्रभावों का मौन समर्पण है तो स्तोत्र उन्हींभावो की शब्दाभिव्य

से युक्त प्रभुचरणशरणागत का नाम है। दोनो मे मन की एकाग्रता, श्रद्धा एवं अविच्छिन्नताकाम्यहै। परन्तु स्तोत्र मे सुन्दर स्वरो की अनुगूज सुनाई पडती है जो सामान्य व्यक्ति को भी आकर्षित किवा आह्लादितकरती है। लेकिन उपासना मे इसकी उपलब्धता नहीं है। स्तोत्र स्वपर प्रकाशक साधनापथ है परन्तु उपासना मे केवल आत्मप्रकाश ही निहित होता है। स्तोत्र साधन है उपासना का और उपासना उपलब्धि है स्तोत्र की। स्तोत्र का पर्यवसान उपासना मे ही होता है।

5. स्तोत्र और षडावश्यक -- जैन शास्त्रों मे षडावश्यक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मस्थिरता के लिए जो अवश्य करणीय है उन्हे आवश्यक कहते है, जो उत्कृष्ट गुणो से आत्मा को उपकारित करता है, वह आवश्यक है – पसत्थगुणेहि अप्पाण छादेतीति आवासं[81] अर्थात् जो प्रशस्तगुणो से आत्मा को आच्छादित करता है वह आवश्यक है। जो समस्त गुणों का निवास है वह आवश्यक है–

समग्रस्यापि गुणग्रामस्यावासकमित्यावासकम्' जो नित्य या अवश्य करणीय है वह आवश्यक है। इसकी संख्या 6 है – सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।[33] सामायिक का द्वितीय भेद चतुर्विंशतिस्तव स्तोत्र ही है। अर्थात् स्तोत्र और चतुर्विंशति स्तव दोनों में समर्थ के गुणो का उत्कीर्तन किया जाता है। अन्तर यह है कि 'चतुर्विंशतिस्व' हमेशा चौबीस तीर्थकरो से ही सम्बद्ध होता है।

6. स्तोत्र का आलम्बन -- आलम्बन का अर्थ है -- आश्रय, सहारा, थूनी, टेक आशय, आवास, कारण, हेतु आदि। स्तोत्र का आलम्बन वही होता है जिसके प्रति स्तोत्र समर्पित किये जाते हैं। वह समर्थ, मृत्युजेता मुक्त, ज्ञानी एव ऐश्वर्यविभूषित होता है। लगभग सभी स्तोत्र का वही आलम्बन के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। आचार्य मानतुङ्ग के स्तोत्रका वही आलम्चन है जो संसार सागार

मे गिरते हुए प्राणियो का आलम्बन है – जो सम्पूर्ण विश्व का प्रकाशक है, पाप रूप अंधकार के साम्राज्य का विच्छेदक है –

भक्ताभर प्रणतमौललिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम्[34]
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।

गीता के अर्जुन के स्तोत्र का आलम्बन कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है, वह ससार का पिता है, सरक्षक है, पालक है, जिसका त्रैलोक्य मे अप्रतिम प्रभाव है---

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः।।[35]

हे प्रभो! आप सम्पूर्ण जगत् के पिता है, आपही मात्र ससार मे पूज्य और श्रेष्ठो मे श्रेष्ठ है, तुम्हारे समान अप्रतिम प्रभाव अन्य किसमे है। कल्याण मन्दिर का आलम्बन संसार–सागर मे गिरते हुए, डूबते हुए लोगो के लिए पोत-जहाज के समान है, कल्याण का मन्दिर है, भीतो का अभय प्रदान करने वाला है।

कल्याणमन्दिर मुदारमवद्यभेदि
भीताभयप्रदमनिन्दितमंघ्रिपद्मम्।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु --
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य।।[36]

स्तोत्र, स्तुति का आलम्बन वहीं होगा जिसकी महिमा अवर्णनीय है, जिसकी सामर्थ्यशक्ति अनन्त है, अपार है। उसकी महिमा का

वर्णन बडे-बडे तत्त्वज्ञानी भी नहीं कर पाते। भक्तामर-स्तोत्र का आलम्बन समस्त गुणो की खनि है, उसके गुणो का निरूपण बृहस्पति के समान समर्थ एवं तेजस्वी प्रतिभा से भी संभव नहीं है –

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र! शशाङ्ककान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्धया।[37]

यहीं ध्वनि कल्याणमन्दिर मे भी है --

यस्य स्वयं सुरगुरुरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम्।[38]
मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो
नूनं गुणान् गणयितु न तव क्षमेत।
कल्पान्तपयसः प्रकटोऽपियस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः?।।[39]

शिवमहिम्नस्तोत्र का भक्त कहता है –

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरूवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।[40]

अर्थात् समुद्र के विशाल पात्र मे कज्जल-पर्वत जितनी स्याही घोलकर, पृथ्वी के विशाल पत्र पर कल्पवृक्ष की कलम से स्वय सरस्वती अनन्तकाल तक लिखती रहें तो भी हे प्रभो! आपक गुणो का पार नहीं लगता।

स्तोत्र का आलम्बन परम सुन्दर, श्रेष्ठ-सुन्दर होता है। त्रैलोक्य मे उसके समान कोई भी सौन्दर्य विभूति सम्पन्न नहीं होता है। वह अनिमेषावलोकनीय होता है। उसको देखने के वाद आखे अन्यत्र

कहीं नहीं जाना चाहती है –

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः[41]
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्।।

ऐसा इसलिए होता है कि उसके समान अन्य कोई रूप नहीं होता है – 'यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति। प्रभु श्री कृष्ण के त्रैलोक्य-सौभग रूप देख्कार मनुष्य को कौन कहे, सृष्टि का एक-एक पदार्थ पुलकित हो जाता है, हर्षित हो जाता, उल्लसित हो जाता है--

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।।[42]

वह त्रिभुवनकमन है, विश्वरमणीय है। पितामहभीष्म कहते हैं---

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवाम्बरं दधाने।[43]
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।।

वह संसार का विभूषण है। ससार उसी की गुणसुगन्धि से वासित तथा रूप लावण्य से ललित है –

तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय[44]

सोमप्रभसूरि लिखते हैं –

पश्यन्तिशीतरुचिमण्डलसोदरं ये
वक्त्रं प्रगे तव जिनेन्द्र! विनिद्रनेत्राः।
तेषामशेषभुवनाधिपतित्वभाजां
लोकाः क्रमाब्जमवलोकितुमुत्सहन्ते।।

स्तो। का आश्रय समस्त भक्तसंसार का आश्रय होता है, जीवों का एकमात्र आधार होता है, डूबती हुई [illegible]

खेवनहार होता है। भक्त कहाता है –

त्वं नाथ! दुःखिजनवत्सल! हे शरण्य![45]
कारुण्यपुण्यवस्ते! वशिनां वरेण्य!।
भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधय
दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि।।

वह भक्त दु ख विनाशक, आर्तिनाशक एवं ससारबधन विच्छेदक होता है। समस्त पापो, तापो का विनाशक होता है।

त्वत्संस्तवेन भवसंतति सन्निबद्धं
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त लोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिवशार्वरमंधकारम्।।

वह सवपूज्य, जगद्वन्द्य, गणखणि, जगत्प्रकाशक अनगुन्तमहिमा से विभूषित एव ज्ञानसम्पन्न, भयविनाशक होता है। वह गुणसमुद्र, परीषहजयी, त्रिजगदीश्वर मृत्युजेता आदि होता है।

7. स्तोत्र के तत्त्व

7.1. आत्मप्रकाशन -- प्रभु गुणोकी भव्यता एव विराटता के सामन भक्त इतना भावित हो जाता है कि अपने अन्तस्थल को खोलकर, अपनी नीचता, कुरूपता को लेकर प्रभु (अपने प्रिय) के सामने खडा हो जाता है। उसके पास अपने सर्जनहार ने छिपाने के लिए कुछ भी अवशिष्ट. नहीं रह जाता है। जब मर्म का पूर्णतया उद्घाटन हो जाता है तभी उस समर्थ से सम्पर्क होता है। भागवत के गजेन्द्र और मानतुगाचार्य मे काफी समानता है। हो क्यो नहीं? भक्ति की सीमा मे जाकर सम्पूर्ण धाराए एक ही हो जाती है। गजेन्द्र कहता है – जिसे बडे-बडे लोग नहीं जान सके, उसको मे क्षुद्र जीव कैसे जान सकता हूँ –

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुः
जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।[47]

भक्त मानतुग अपनी असमर्थता को प्रभु को बता देता है – हे प्रभु! जब तुम्हीं मेरा बेडा पार कर सकते हो। हम तो अल्पसत्त्व असमर्थ जीव है। स्तव करने का सामर्थ्य मुझमे कहाँ।[48]

7.2. माहात्म्य ज्ञान -- भक्त या स्तोता को अपने उपास्य की महनीयता का ज्ञान हमेशा बना रहता है। गोपियो को यह ज्ञान है कि उसका प्रभु केवल नन्दलाल नहीं बल्कि सम्पूर्ण गुणो का स्वामी है –

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवा यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।[49]

स्तुति-काव्य मे भक्त को यह अखण्ड विश्वास होता है कि उसका उपास्य कोई सामान्य नहीं, बल्कि वह त्रैलोक्यपूज्य, त्रिभुनार्तिहर, विश्वगोप्ता, अव्यय एव अनन्तस्वरूप है। विपत्तिकाल मे वह एकमात्र समर्थ शरण्य है।

7.3. आश्चर्य से स्थैर्य की यात्रा -- भगवद्विभूतियो का दर्शन स्तुतिकाल मे ही होता है। जो कभी देखा न गया उसको देखकर आश्चर्य तो होना ही है, लेकिन धीरे-धीरे प्रभु-पाद-पद्मो मे वह भक्त रमण करने लगता है। भक्तामरकार की यात्रा भी इसी धरातल पर प्रारम्भ होती है।

7.4. अन्धकार से प्रकाशलोक में -- स्तुतिकाल की यात्रा घने अन्धकार लोक से प्रारम्भ होती है, जहाँ कोई प्रकाशपुञ्ज दिखाई नहीं पडता, लेकिन भक्त धीरे-धीरे अपने प्रभु के सम्बल पर वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ केवल प्रकाश ही शेष रहता है, वहाँ उसके उपास्य का प्रकाश ही जगमगता है।

7.5. बिम्बात्मकता या चित्रात्मकता -- यह स्तुतिकाव्य का प्रमुख तत्त्व है। उपास्य के विभिन्न रूपो एव गुणो का स्पष्ट बिम्बन इस

काव्य विधा मे होता है। भक्तामर के प्रथम छ. श्लोको में भक्त की निरीहता एवं समर्पण का बिम्ब उदात्त एव उत्कृष्ट है। चौथे श्लोक में प्रलयकालीन जल एव उसे पार करने की असमर्थता आदि भावो का.सहज रूपांकन हुआ है। अन्य बिम्ब का उदाहरण इस प्रकार है – जगत्स्तुत्य प्रभु श्री ऋषभदेव (2) भवजल का एकमात्र अवलम्ब प्रभु–1, प्रभु के अनुपम रूप–13, काम परीषह में मन्दरपर्वत के समान भगवान की स्थिरता–15, अपूर्व दीपक–17, 18 आदि।

कलागत बिम्बो मे अलंकार–बिम्बों की रसनीयचारुता उत्कृष्ट है। उपमानो के प्रयोगक्रम मे बालक द्वारा चन्द्रबिम्ब–ग्रहण के लिए प्रयास–3, मृगो–मृगेन्द्र, सूर्य अन्धकार–7, कोकिल–6, जलनिधि–11, आदि उपन्यसत है।

7.6. रमणीयता एवं आह्लादकता -- ये तत्त्व एक श्रेष्ठ काव्य के प्राणस्वरूप होते है। स्तुति–काव्य श्रेष्ठ काव्य है। भक्तामर का प्रारम्भ ही रमणीयता के धरातल पर होता है। आह्लादकता आद्यन्त विद्यमान है।

7.7. रसनीयता -- स्तुति-काव्य मे रस का साम्राज्य होता है। स्तोत्र मे भक्तिरस उपचित है। वीर, अद्भूत एवं शान्तरस की छटा चर्व्य है। अपनी ह्रस्वता, प्रभु-पाद-पद्मो में पूर्ण समर्पण और विगलित हृदय से उनके गुणो का वर्णन भक्तिरस के उदाहरण है।[50]

भगवद्विभूतियो के वर्णन मे वीरस का सौन्दर्य आस्वाद्य होता है। श्लोक सख्या 31 मे भगवान् ऋषभदेव का चक्रवर्तीत्व रूप के निरूपण में वीररस का उत्कृष्ट उदाहरण बन पडा है। कामपरीषह के आने पर ऋषभ भगवान् का मेरुवत् अडोल रहना, वीरत्व या सयमवीर का चूडान्त निदर्शन है।[51]

भगवान् के ऐश्वर्य-वर्णन मे अद्भूत रस का सौन्दर्य आस्वाद्य है।[52]

सासारिक दु ख या निर्वेद शान्तरस के स्थाई भाव है। भक्तामर स्तोत्र का मूल उद्गम कारण सांसारिक दु:ख ही है, अतएव इसमे

शान्तरस का प्राधान्य है।

7.8. मुक्तात्मकता -- स्तुति–काव्य का यह प्रमुख वैशिष्ट्य है। इसमे प्रत्येक श्लोक रसनीयता एवं आस्वाद्यता की दृष्टि से पूर्वापर स्वतन्त्र होते है। अग्निपुराणकार के अनुसार जिनमे अर्थद्योतन की स्वतः शक्ति हो उसे मुक्तक कहते है -- मुक्तकं श्लोकैकश्चमत्कार क्षम. सताम्।[53] कविराज विश्वनाथ ने अन्य पद्य निरपेक्ष या स्वतन्त्र काव्य को मुक्तक माना है – छदोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।[54] एक ही छन्द मे वाक्यार्थ की समाप्ति मुक्तक है।[55] उद्विन्यस्त लक्षण सन्दर्भ मे विचारकरने पर प्रती होताहै कि भक्तामर स्तोत्र का प्रत्येक श्लोक रसबोधक एव अर्थद्योतन मे समर्थ है। अशोक तरुतलासीन ऋषभदेव का सौन्दर्य द्रष्टव्य है–

उच्चैरशोकतरू संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति।।[56]

एक-एक पद्य भक्त-हृदय-सागर मे निविष्ट अनन्त भावरत्नो की राशि को उद्घाटित करने में समर्थ है। अनुपमा जननी के अनुपम पुत्र की महनीयता का अवलोकन–

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्।।[57]

7.9. संगीतात्मकता -- गीत-गगा का उदय हृदय के समत्व धरातल से होता है। भक्त या स्तोता को जब किसी कारणवशात प्रभु की स्मृति आती है या स्वय स्मरण करता है तो उसका हृत्स्पंदन

चमत्कृत हो उठता है, भावो की तरंगिनी तरगायित होने लगती है, बाह्य शब्द-संसार भी साथ देने को तैयार हो जाता है। सगीतात्मकता की प्रवाहिणी प्रवाहित होने लगती है जो इतनी समर्थ और सशक्त होती है कि भक्त उसमे बह ही जाते है ससार का भी कही पता नहीं रहता है। भक्तामर के प्रत्येक चरण मे लयात्मकता, गेयता, सगीतात्मकता आदि विद्यमान है।

8. स्तोत्र से लाभ

शून्य के धराजतल से विद्योतित–चिदम्बराकाश तक की महायात्रा का नाम है – स्तोत्र, जिसमे भक्त अपने हृदयसागर से समुत्थ सुस्वर शब्दरत्नो की मालालेकर अपने प्रिय की पुरी मे, अपने चिर उपास्य के मधुमयधाम मे और जन्मजन्मान्तरीय अभीप्सित के चरणकमलो मे उपस्थित होकर सदा–सर्वदा के लिए उसी का हो जाता है, उसी का रूप भी प्राप्त कर लेता है। उस दीदावरपुरी मे जाते ही संसार के सारे भय, पाप-ताप शैत्यपावनत्व मे परिणत हो जाते है, विरस ससार भी सरस हो जाता है--

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलैर्वाचोविमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।[58]
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद् यास्तद्विरक्ताः शवशोभनाः मताः।।

अर्थात् जब समस्त पापो के नाशक उनके परममंगलमयगुण, कर्म और जन्म की लीलाओ से युक्त होकर वाणी उनका गान करती है, जब उस गान से संसार मे जीवन की स्फूर्ति होने लगती है, शोभा का सचार हो जाता है, सारी अपवित्रताएं धुलकर पवित्रता का साम्राज्य पा जाती है, परन्तु जहा उनके अतिरिक्त दूसरे का गुणज्ञान होता वहां शव को शोभित करने जैसी स्थिति होती है।

स्तुति एक ऐसी कला है, एक ऐसी विधा, एक ऐसा अवितथ मार्ग है, जिस पर प्रस्थान करते ही सब कुछ रम्य हो जाता है। वही सत्य है, वही पुण्य है, वहीं मगल है, क्षण-क्षण रम्य महोत्सव है

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।[59]
तदेवसत्यं तदुहैव मंगलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्।।
तदेव रम्यं रुचिरं नवं-नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोनुगीयते।।

जिस वाणीके द्वारा प्रभु का नाम का कीर्तन (स्तोत्र) नही होता वह वाणी निरर्थक है, असत्कथा है। जो वाणी भगवद्गुणो का स्तोत्र का गायन करती है वही परमपावन है, परममगल है, परम सत्य है। भगवद्यशोगान ही परमरमणीय है, रूचिकर एवं प्रतिक्षण नवीन है। मनुष्यों का सारा शोक, समुद्र के समान गहरा एव विशाल क्यो न हों क्षणभर मे समाप्तहो जाता है।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मे अलग-अलग साधनापद्धतियो का निर्देश है। कलियुग मे नामकीर्तन का प्रभूत महत्त्व है इसलिए स्तोत्र साहित्य का आधिक्य है। कलियुग मे दोषो का आधिक्य होता है। प्रभु नाम कीर्तन से सारे दोष समाप्त हो जाते हैं।

भगवान् शुकदेव ने निर्दिष्ट किया है:-

कलेर्दोषनिधेराजन् अस्ति ह्येको महान् गुणः।[60]
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।।
कृते यद् ध्यायतो विष्णं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्हरिकीर्तनात्।।

हे राजन्! (परीक्षित!) कलियुग दोषों का खजानाहै। लेकिन इसमेएकमहान् गुण है – 'कलियुग में' कृष्ण के गुणगान (स्तोत्र) से सारी आसक्तियां छूट जाती है और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, मुक्त सङ्ग हो जाता है। सत्ययुग मे भगवान् का ध्यान करने से, त्रेता मे बडे–बडे यज्ञो के द्वारा उनकी आराधना करने से और द्वापर मे विधिपूर्वक पूजा से जो फल मिलता है, वह कलियुग मे भगवन्नाम कीर्तन करने से ही प्राप्त हो जाता है।

कुछ प्रमुख स्तोत्र के आधार पर 'स्रोत्र से क्या लाभ है' यह विषय चिन्त्य है –

8.1. पाप विनाश – भगवद्कीर्तन से, जिनेश्वर–स्तुति से, परमेष्टी वंदन से पापों का विनाश होता है, अन्तरात्मा शुद्ध एव पवित्र हो जाती है:–

ब्रह्महा पितृहा गोघ्ना मातृहाऽचार्यहाऽघवान्।[61]
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनाम्।।

अर्थात् भगवान् के नाम कीर्तन (स्तोत्र) मात्र से ही ब्राह्मण, पिता, गौ, माता, आचार्य आदि की हत्या के पाप से आक्रान्त महापापी, कुत्ते का मांस खाने वाले चाण्डाल और कसाई भी शुद्ध हो जाते है। आचार्य विद्यानन्दि ने निर्दिष्ट किया है कि श्रेयस्-मार्ग के विध्न रूप पान स्तवन रूप मगल से समाप्त हो जाते है –

मलं वा श्रेयोमार्गसंसिद्धौ विध्ननिमित्तं पापं गालयतीति, मंगलं तदिति, तदेतदनुकूलं नः, परमेष्ठिगुण स्तोत्रस्य परममंगलत्वप्रतिज्ञानात्।[62]

अर्थात् श्रेयोमार्ग की संसिद्धि मे विघ्न डालने वाला पाप ही मल है। वह परमेष्ठी के गुणस्तवन से गलता है।

अत. उस स्तवन को मगल कहते है। आचार्यसिद्धसेन ने भी इस ओर निर्देश किया है.

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! संस्तवस्ते[63]
नामापि पाति भवातो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत् पान्थजनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि।।

अर्थात् आपके स्तव की अचिन्तय (अथाह) महिमा को कौन कहे तुम्हारेकेवल नाम भी ससारके सम्पूर्ण जीवों को पवित्र कर देते हैं।

ग्रीष्म ऋतु मे तीव्र ताप से पीडित पथिक को कमलसरोवर से निकलकर आती हुई शीतल हवाएं भी प्रसन्न कर देती है, शान्ति प्रदान करदेती है, भक्तामर स्तोत्र मे दो स्थलो पर स्तोत्र, भगवद्गुणकीर्तन के पाप विनाशक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है:–

त्वत्संस्तवेन भवसंततिसन्निबद्धं[64]
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त-लोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।।

अर्थात् भगवान! तुम्हारी संस्तुति से प्राणिमात्र के जन्म-जन्म के सचित पाप कर्म क्षणमात्र में विनष्ट हो जाते है। जैसे भौरे के समान काली रात्रि के अशेष लोक-व्याप्त अधेरे को सूर्य की किरणे शीघ्र ही भेद डालती है।

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं[65]
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।

हे देव! समस्त दोषो को दूर करने वाली तुम्हारी यह स्तुति तो दूर, तुम्हारी संकथा ही जगत् के पापो को दूर कर देती है।

8.2. विघ्नविघातन -- ससार की सुविहित-यात्रा मे, श्रेयम् मार्ग मे अनेक विघ्न, अन्तराय उपस्थित हो जाते है, जो संसार-यात्री को बाधित तो करते ही है, विचलित भी कर देते है, हिला भी देते है। लेकिन भगवन्नामकीर्तन रूप स्तोत्र से, जिनेश्वर की स्तुति से भक्त सम्पूर्ण विघ्नो को पारकर आगे निकल जाता है। विघ्न-समर में स्तोत्र कवच एव अमोघ अस्त्र का काम करते हैं। कवच इसलिए कि ये भक्तो की रक्षा करते है, अमोघ-अस्त्र इसलिए कि विघ्न–शत्रु, अन्तराय–रिपु का क्षणभर में विनाश कर देते है। आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है – शास्त्रो के आदि, मध्य और अन्तमे किया गया जिन स्तोत्र रूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नो को उसी प्रकार नष्ट

कर देता है जैसे सूर्य अन्धकार को।[66] तत्त्वार्थलोवार्तिककार ने एक कारिका उधृत किया है, जो स्तोत्र के विघ्नान्तराय-घातक स्वरूप की प्रतिपादिका है--

नेष्टां विहन्तुं शुभभाव-भग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।[67]
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः।।

अर्थात् भगवान् के गुणो मे अनुराग करने से सामर्थ्यवान् अन्तराय कर्म, जो कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमे बाधा उपस्थित करता है, समाप्त हो जाता है। शुभ–कर्मो के उदय से शुभकामनाए पूर्ण होती है।

8.3. सर्वभयमुक्ति -- संसार भय स्वरूप है। भगवद्गुणकीर्तन रूप स्तोत्रो से सम्पूर्ण भय समाप्त हो जाते है। ससार बन्धन विच्छर्दित हो जाता है। स्तोत्र भवयात्रा समेटन रूप है। इससे घोर संसार का विनाशा एव परम शान्ति की अवाप्ति होती है–

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।[68]
यतो विन्देत परमां शान्ति नश्यति संसृतिः।।

अर्थात् ससार मे भ्रमणशील जीवो के लिए, देहधारियो के लिए संकीर्तन से बढकर कोई लाभ नही है, क्योंकि संकीर्तन से जीव जन्म-मृत्यु रूप संसार के चक्र से छूट जाता है, परम शाति को प्राप्त कर लेता है।

जैन वाड्मय मे भय के अनेक प्रकार निर्दिष्ट है। समवायाङ्ग मे भय के सात रूप उल्लिखित है:–

इहलोलभए परलोगभए आदाणभए अकम्हाभए आजीवभए मरणभए असिलोभए।[69]

भयहरस्तोत्र मे रोग, जल, ज्वलन, सर्प, चोट, सिह , गज, रण आदि तथा भक्तामर स्तोत्र कमे कुञ्जर, मृगपति, दवानल,

फणिधर, सग्राम, सागर, जलोदर और बन्धन आदि आठ-आठ भयों का उल्लेख है। स्तोत्र से इन सबका विनाश हो जाता है। भक्तामर स्तोत्र मे भय-विनाश की कहानी कही गई है–

1. **कुंजर भय** --

ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्त

दृष्ट्वा भय भवति नो भवदाश्रितानाम्।।[70]

2. **मृगपति भय** –

बद्धक्रम· क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि।

नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते।।[71]

3. **दावानलभय** –

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं

दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्सस्फुलिगम्।

विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं

त्वन्नाम कीर्तनजल शमयत्यशेषम्।।[72]

4. **फणिधर (सर्प) भय** --

त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः।।[73]

5. **संग्राम भय** --

त्वत्कीर्त्तनात् तम इवाशुभिदामुनपैति।[74]

त्वत्पादपंकजवनाश्रंयिणो लभन्ते।[75]

6. **सागर भय** -- त्रासं विहाय भवतः स्मरणात् व्रजन्ति।[76]

7. **जलोदर भय** -- मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा।[77]

8. **बन्धन भय** -- सद्य. स्वयं विगत–बन्धभया भवन्ति।।[78]

8.4. मनोवांक्षित की उपलब्धि -- स्तुति अथवा स्तोत्र से मनोवाक्षित की उपलब्धि तो होती ही है, स्तोता वैसा कुछ भी प्राप्त

कर लेता है। जिसके बारे में न उसने कभी सोचा था, न कभी जाना था, अर्थात् अचिन्त्यफल की प्राप्ति होती है। भक्त जो कुछ भी चाहता है -- ऐहिक (भौतिक) एवं पारलौकि सम्पदा आदि सब कुछ स्तव से लब्ध कर लेता है। कलियुग में संकीर्तनसे ही व्यक्ति कृत्यकृत्य हो जाता है। आर्य उक्ति है--

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।[79]
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते।।

अर्थात् कलियुग मे केवल सकीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ उपलब्ध हो जाते है, इसलिए गुणज्ञ एव सारग्राही आर्यो ने कलियुग को ही श्रेष्ठ माना है।

सर्वलणलक्षिता – लक्ष्मी अवश होकर स्तोता की वशवर्तिनी बन जाती है--

तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः[80]

इस प्रकार स्तुति से अनन्त सामर्थ्य की लब्धि, अभयपद की प्राप्ति, परममंगल मे स्थिति, प्रभु सायुज्य अथवा प्रभुतुल्यत्व की उपलब्धि सहजरूपेण स्तोता को हो जाती है।

9. स्तोत्र साहित्य -- प्राचीनकाल से ही स्तोत्र की धारा प्रवाहित है। विश्व का आद्य ग्रन्थ ऋग्वेद अनेक देवी-देवों -- अग्नि, इन्द्र, विष्णु, उषा आदि से सम्बद्ध स्तोत्रो का संग्रह है। अन्यवेदो मे भी अनेक सुन्दर स्तुतियां उपलब्ध है। रामायण महाभारत आर्य-सस्कृति के प्राण हैं। रामायण में ब्रह्मा, विष्णु आदि की स्तुतियां प्रधान है। आदित्यहृदय स्तोत्र (युद्धकाण्ड-105) जनमन का कण्ठहार है। महाभारत मे भीष्म स्तवराज, द्रौपदीकृत श्रीकृष्ण स्तुति एव शिधवसहस्त्रनाम स्तोत्र आदि प्रसिद्ध है। रघुवंश महाकाव्य के दशवे सर्ग मे विष्णु, ब्रह्मा, शिव, कृष्ण आद सि सम्बद्ध अनेक सुन्दर स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। भगवतपुराण मे स्तुतियो की विशाल-सम्पदा है।

गजेन्द्र-मोक्ष, नारायण कवच, कुन्तीकृत स्तोत्र, भीष्मस्तोत्र, वेदस्तुति आदि प्रसिद्ध है। स्वतत्र स्तोत्रो मे पुष्पदन्तकृत शिवमहिम्न स्तोत्र गौडपादाचार्य (शंकराचार्य के दादागरु) कृत सुभगोदय-स्तुति, आचार्य शकर कृत सौन्दर्यलहरी, उत्पलदेव कृत शिवस्तोत्रावली, राजतरंगिनीकार कल्हणकृत अर्धनारीश्वरस्तोत्र, जगद्धरभट्ट कृत स्तुतिकुसुमांजलि, पंडितराज जगन्नाथ की गगलहरी आदि प्रमुख है। कतिपय सहस्रनाम स्तोत्रों की भी रचना की गई है, जिनमे बेकटाध्वरिकृत लक्ष्मीसहस्रम्, भानुचन्द्रकृत ज्वालासहस्रनाम, तारासहस्रनाम, रामसहस्रनाम आदि प्रसिद्ध है।

बौद्ध–वाड्मय मे प्रभूत स्तोत्र उपलब्ध है। मात्चेटकृत अध्यर्धशतक बौद्ध-स्तोत्र साहित्य मे अग्रदूत माना जाता है। शून्यवादि नागार्जुन (8वीं शती) कृत चतुःस्तव, वज्रदत्तकृत लोकेश्वर शतक, सर्वज्ञमित्रकृत आर्यतारास्रग्धरास्तोत्र, रामचन्द्र कविभारती विरचित भक्तिशतक आदि बौद्धस्तोत्र उल्लेखनीय है।

जैनपरम्परा मे विपुल रूप से स्तोत्र साहित्य की रचना हुई है। आचारांग का उपधानश्रुत एवं सूत्रकृतांग की महावीर-स्तुति आदि जैन-स्तोत्र के प्राचीनतम रूप है। उपधानश्रुत मे भगवान् महावीर के वीर–चरित्रका समद्घाटन हुआ है। महावीर-स्तुति मे साभिप्रायनामो के प्रयोग से भगवान् महावीर के विभिन्न गुणो का प्रकाशन हुआ है। कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'तित्थयरसुद्धि' तथा सिद्धभक्ति आदि प्राचीन माने जाते है। पाच प्राकृत गाथाओं मे निबद्ध भद्रबाहु कृत 'उवसग्गहर स्तोत्र' इतना प्रसिद्ध है कि इस पर अनेक टीकाए लिखी गई। प्राकृत के अन्य स्तोत्रों मे नन्दिसेन का अजियसतिथय, धनपालकृत 'ऋषभपचाशिका' और वीरत्थुई, देवेन्द्र सूरि का स्तोत्र–साहित्य, धर्म घोषसूरि का 'इसिमण्डलथोत्त', एव अभयदेवसूरी विरचित जयतिहुअण आदि घोत्त प्रमुख है।

संस्कृत-भाषा मे जैन-कवियो ने अनेक उत्कृष्ट स्तोत्रो की रचना की है जो शैली, पद्धति, छन्द, अलंकार की दृष्टि से विविधता सम्पृक्त

हैं। श्लेषमयी शैली, तार्किक शैली आलंकारिक शैली और पादपूर्त्यात्मक तथा समस्यापूर्त्यात्मक शैली मे स्तोत्रो की रचना हुई है।

दार्शनिक-प्रविधियों के स्पष्टीकरण के लिए तार्किक शैली मे संरचित स्तोत्रों में आचार्य समन्तभद्र का स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन औश्र जिन शतकालंकार, आचार्य सिद्धसेन एव हेंमचन्द्रकृत द्वात्रिंशिकाएं प्रमुख स्तोत्र हैं।

प्रश्राचक्षु महाकवि श्रीपाल का 29 पद्यात्मक सर्वजिनपतिस्तुति, हेमचन्द्रशिष्य रामचन्द्रसूरि की द्वात्रिंशिकाएं एवं स्तोत्र, जय तिलक सूरिकृत चतुर्हारावलीचित्रस्तव आदि श्लेषात्मक एवं आलंकारिक शैली में निबद्ध प्रमुख स्तोत्र हैं।

पादपूत्तर्यात्मक या समस्यापूर्त्यात्मक स्रोत्रों की भी प्रभूत रचना हुई है। भक्तामर की समस्यापूर्ति में अनेक कवियों ने अपनी वाणी को विलसित किया है। समय सुन्दर कृत वीरभक्तामर एवं गणाधिपतितुलसी कृत **कालुभक्तामर** प्रसिद्ध है।

शुद्ध भक्त्यात्म्क स्तोत्रो में देवनन्दि पूज्यपाद (छठीशती) की सिद्धभक्ति आदि बारह भक्तियां, सिद्ध प्रिय स्तोत्र, सिद्धसेन का कल्याणमंदिर, मानतुङ्गाचार्य का भक्तामर स्तोत्र, बप्पभट्टि के सरस्वती स्तोत्र, शान्तिस्तोत्र, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, वीरस्तव, धनजय (8वीं शती) कृत विषहार, जिनसेन (9वीं शती) का जिन सहस्रनाम, विद्यानन्द का श्रीपुरपार्श्वनाथ आदि प्रसिद्ध है।

10. आचार्य मानतुंग -- आचार्य मानतुंग तथा उकना भक्तामर स्तोत्र का भक्तिसाहित्य में उत्कृष्ट स्थान है। इसके स्तोत्र दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से प्रतिष्ठित है। इस स्तोत्र मे 48 श्लोक हैं जो काव्य कहलाते है। प्रत्येक पद्य में श्रेष्ठ काव्य के सभी उपादनों के विद्यमान होने से इन्हे काव्य कहते हैं।

मानतुङ्ग को वाण और हर्ष का समकालीन माना जाता है। डा०

कीथ ने भी यह अनुमान किया है कि मानतुङ्ग बाण के समकालीन थे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने भी अपने 'सिरोही का इतिहास' नामक पुस्तक मे उपयुक्त मत को पुष्ट किया है। श्री हर्ष का राज्याभिषेक 608 ई० मे हुआ था अतएव मानतुडग का समय ई० सन् 7 वीं शताब्दी के मध्यभाग मे माना जा सकता है।

भक्तामर स्तोत्र के अन्तरंग परीक्षण से प्रतीत होता है कि यह स्त्रोत कल्याण मन्दिर का परवर्ती है। कल्याणमन्दिर के रचनाकार सिद्धसेन का समय षष्ठी शताब्दी स्वीकार किया जाता है। भक्तामर स्तोत्र मे नाममाहात्म्य, प्रभुपाद मे समर्पण और भक्त द्वारा प्रभु के समाने अपनी दीनता हीनता को प्रकट करना आदि का जैसा चित्रण हुआ है, उससे लगता है कि यह स्तोत्र श्रीमद्भागवत की स्तुतियो से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। गीता की अर्जुन स्तुति (11वां अध्याय) अनेक शब्द यथारूप भक्तामर मे प्रयुक्त है। श्रीमद्भागतवतपुराण की रचना चतुर्थशाताब्दी से पहले हो चुकी थी। इस प्रकार अतरपगप्रमाणो से भी भक्तामर का समय 7 वीं शताब्दी का मध्यभाग ही होना चाहिए।

मानतुङ्ग जैसे भक्त आचार्य किस कुल मे अवतीर्ण हुए इसमे भी मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बराचार्यकृत प्रभावक चरित मे मानतुङ्ग को काशीनिवासी धनेदव सेठ का पुत्र कहा गया है। वस्तुतः भक्तामर स्तोत्र मे प्रयुक्त शब्दावलियो पर विचार करने पर स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इसका कवि जन्म से ब्राह्मण या ब्राह्मण धर्म से प्रभाववित होना चाहिए। क्योंकि उपनिषद, पुरागण आदि की शब्दावलियो का प्रयोग किया गया है। जिनेन्द्र वर्णी ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश मे इन्हे काशीवायी धनदेव ब्राह्मण का पुत्र स्वीकार किया है। बाद मे किसी कारणवशात् जैनदीक्षा स्वीकार कर लिया है। इस तरह के शताधिक उदाहरण मिलते है जो पहले ब्राह्मण विद्वान् थे बाद मे श्रमणधर्म को सश्रद्ध स्वीकार किया तथा उसकी साहित्यिक एवं आध्यात्मिक दोनो प्रकार से समृद्धि की।

ये दिगम्बर आचार्य थे या श्वेताम्बर इसमे भी मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के विद्वान् यह स्वीकार करते है कि मानतुङ्ग पहले श्वेताम्बर थे बाद मे दिगम्ब्र हुए। श्वेताम्बर कहते है कि ये पहले दिगम्बराचार्य थे बाद मे श्वेताम्बर कहते है कि ये पहले दिगम्बराचार्य थे बाद में श्वेताम्बर हुए। श्वेताम्बर कहते है कि ये पहले दिगम्बराचार्य थे बाद मे श्वेताम्बर हुए। जो भी हो भक्ति-काव्य मे परम्परा, जाति आदि का भेद नहीं होता। इसलिए इस विषय मे अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

यह तथ्य तो सिद्ध है कि मानतुङ्ग हर्ष के समय हुए थे। उस समय चमत्कार प्रदर्शन प्रचलित था। म्यूर और बाणभट्ट ने अपने स्तोत्रो से अपनी शारीरिक बिमारियो को ठीक किया था। किसी जैन विद्वेषी व्यक्ति ने राजा हर्ष से शिकायत की कि जैनो मे ऐसा कोई अद्भूत चमत्कार हो तो यहां रहे, अन्यथा देश छोडकर चले जाएं। मानतुंगाचार्य को बुलाकर राजा ने चमत्कार दिखाने के लिए कहा। आचार्य ने कहा कि हमारे आराध्य तो वीतरागी होते है, मुक्त होते है, लौटकर पुन. नहीं आते फिर भी उन्होने अपने शरीर को 44 बेडियो और हथकडियो से कसवाकर उस नगर के श्रीयुगादिदेव के मन्दिर मे बैठ गए। भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से सभी बेडिया टूट गयीं और मन्दिर अपना स्थान परिवर्तित कर उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। इस प्रकार मानतुङ्ग ने जिन शासन का प्रभाव दिखलाया।

तथ्य जो भी हो लेकिन इतना तो सत्य है कि भक्तामर-स्तोत्र मे अद्भुत शक्ति है, जिसके आधार पर हर कोई अपने इष्ट–वस्तु को तो प्राप्त कर ही सकता है, लोक मे अद्भुत शाति से सम्पूरित भी होता है।

****

संदर्भ सूची

1 संस्कृत धातुकोष पृ० 134

2 संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टेकृत) पृ० 1137

3 अमरकोश 1 1 5.12

4 हलायुधकोश पृ० 725

5 वैजयन्तीकोश 2 3 35

6 शब्दरत्नाकर – श्लोक सख्या 1810

7 शिवमहिम्न स्तोत्र पर मधुसूदनी व्याख्या पृ० 1

8 उत्तराध्ययनसूत्र 29 14

9 मूलाचार 24

10 राजवार्तिक 6 24, 11

11 भक्तामर रहस्य पृ० 20 पर उधृत

12 तत्रैव पृ० 21

13 तत्रैव पृ० 21

14 भक्तामर स्तोत्र 36 पर गुणाकरसूरि की वृत्ति

15 तत्रैव मेघविजय की वृत्ति

16 तत्रैव कनककुशलगणि की वृत्ति

17 तत्रैव श्लोक 2 पर गुणाकार सूरि की वृत्ति

18 तत्रैव मेघविजय की वृत्ति

19 तत्रैव कनककुशलगणि की वृत्ति

20 तत्रैव श्लोक 5 पर गुणाकरसूरि की वृत्ति

21 तत्रैव श्लोक मेघविजय की वृत्ति

22 तत्रैव श्लोक कनककुशलगणि की वृत्ति

22. तत्रैव श्लोक 5 गुवि.

23. तत्रैव श्लोक 5 गुवि.

24 तत्रैव श्लोक 8 एवं 9 गुवि, मेवृ., कवि,

25. तत्रैव श्लोक 48 पर गुवि., मेवृ., कवि,

26. संस्कृत धातुकोष पृ० 9

27. मुण्डकोपनिषद् 2.2.3

28 तत्रैव शोकर भाष्य

29 वेदन्तासार (व्याख्याकार – श्री बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास 1979 पृ० 24)

30 तत्रैव पृ० 30

31 अनुयोगद्वार चूर्णि पृ० 14

32. अनुयोगद्वारा मलधारीटीका पुत्र 28

33 मूलाचार, गाथा - 220

34. भक्तामर स्तोत्र - 1

35 गीता 11.43

36 कल्याणमन्दिरस्तोत्र-11

37 भक्तामर स्तोत्र- 4

38 कल्याणमन्दिर 2

39 तत्रैव 4

40 शिवमहिम्न स्तोत्र 32

41 भक्तामर स्तोत्र 11

42 भागवतपुराण 10 24.40

43 तत्रैव 1 9 33

44. भक्तामर स्तोत्र 26

45 कल्याणमन्दिर 29

46 श्रीसाधारणस्तोत्रम् स्तोत्र संदोह, पृ० 14, श्लोक सख्या 2, साराभाई मणिलाल नवाब, नागजी भूधर का पोल अहमदावाद- सन् 1932

47. भागवतपुराण 8 3 6

48 भक्तामर स्तोत्र 3, 4, 5, 6

49 भागवतपुराण 10 29 41

50 भक्तामर स्तोत्र 5, 13

51 तत्रैव 15

52. तत्रैव 17, 18

53 अग्निपुराण 337 33

54 साहित्यदर्पण 6 314

55 काव्यानुशासन 8 10

56 भक्तामरस्तोत्र 28

57 तत्रैव 22

58 भागवतपुराण 10 38 12

59 तत्रैव 12.12 48-49

60 तत्रैव 12 3 51-52

61 तत्रैव 6 13 8

62 आप्तपरीक्षा, आचार्य [illegible] सरसावा, सहारनपुर [illegible]

63. कल्याणमन्दिर – 7

64 भक्तामर स्तोत्र 7

65 तत्रैव 9

66 तिलोयपण्णत्ति (आचार्ययतिवृषभ) 1.31

67 स्तुति विद्या, प जुगलकिशोरमुख्तार सम्पादित, प्रस्तावना, पृ० 16

68 भागवतपुराण 11 5 37

69 समवायागसूत्र

70 भक्तामर स्तोत्र 38

71 तत्रैव 39

72 तत्रैव 40

73 तत्रैव 40

74 तत्रैव 41

75 तत्रैव 42

76 तत्रैव 43

77 तत्रैव 44

78 तत्रैव 45

79 भागवतपुराण 11 5 36

80 भक्तामर स्तोत्र 48

****

भक्ति और भक्तामर स्तोत्र

1. सामान्य

अह–भग, मोह–विलय, इन्द्रिय–परित्याग, सात्विश्रद्धा और समाहित–चित्त की माधवी भूमि पर भक्ति का बीज अकुरित होता है, जो गुणकीर्तन, वंदन, समर्पण और आत्मविलय आदि साधनो से सम्पुष्ट होकर एक महान वृक्ष का रूप ले लेता है। जिसकी शीतल छाया मे आनन्द का मधुमय धाम होता है, सुजनता का, सौष्ठवता का, साधुता का और सम्पन्नता का श्रेष्ठ अधिवास होता है। रमणीयता और वल्गुता का मनोरम लास्य प्रभु–प्रेम के अतितथ धरातल पर अहर्निश सगठित होता रहात है। सात्विकता की अनाविल–सरिता की शीतल एव पावन लहरे हमेशा थिरकती रहती है। जहा पर हृदयाकाश में ही प्रभुप्रकाश प्रकट होन लगता है, विनश्वर देह मे आदिरूप का सन्धान हो जाता है। चैतन्याकाश मे भक्ति देवी के प्राकट्य होते ही काम राम के मनोरम लावण्य मे, वासना विभूति के वैभव में तथा कषाय कर्मविहीनता के मनोमय आकाश मे भक्ति देवी के प्राकट्य होते ही का राम के मनोरम लावण्य मे, वासना विभूति के वैभव मे तथा कषाय कर्मविहीनता के मनोम आकाश मे परिवर्तित होकर चिदानन्द स्वरूप हो जाते है। रात्री अपने स्वाभाविक अन्धकार को छोडकर केवल मनोरम ज्योत्स्ना की काम्य–तरगो को ही अवतरित करती है। धारा (ब्राह्यवृत्तियां) सदा सर्वदा के लिए अपनी बाहरी यात्रा छोडकर राधा की रमणीय शक्ति के रूप मे प्रकट होती है। चेतनाकाश मे, चिदाकाश मे विराजित 'राध् साध् ससिद्धौ से साधिता सिद्धिस्वरूपा, दिव्यधाराशक्तिरूपा एवं ऐयवर्यविभूति राधा है जो आत्मशक्ति का, सर्वोच्च सत्ता का, महान् विभूति का, आत्मजागरण का अपरपर्याय

है। भक्ति मे यही काम्य होती है।'

मन, चेतना, इन्द्रिया, आखे अपने अन्तिम गन्तव्य को प्राप्त कर सदासर्वदा के लिए अपने निजस्वरूप (बाहरभटकना) से विरमित्त होकर 'यत्ते समानमपर नहि रूपमस्ति'[2] 'त्रैलोक्य सौभगमिदम्'[3] 'त्रिभुवनकमनम्'[4] आदि सूक्तियो से साधित रूप के मानसरोवर मे हमेशा–हमेशा के लिए निमज्जित हो जाती है। भक्ति की यह दीदावरी कला अरबो मे से किसी एक भाग्यशाली दीदावर को हस्तगत हो जाती है। इस कला को पाकर, इस महासागर मे निमज्जित होकर व्यक्ति सदा सर्वदा के लिए धन्य हो जाता है, कृत्पुण्य हो जाता है।

2. भक्ति का अर्थ एवं स्वरूप

2.1 भक्ति की व्युत्पत्ति -- भक्ति शब्द की सिद्धि चार प्रकार से की जा सकती है --

2 1 1 भ्वादिगणीय 'भज–सेवायाम्'[2], धातु से 'स्त्रियाक्तिन्'[6], सूत्र से क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द की सिद्धि होती है। जिसका अर्थ है-- सेव, उपासना, पूजा, श्रद्धा, अनुराग आदि। गुरुड पुराणकार का निर्देश है –

भजधातोस्तु सेवार्थः प्रेमा क्तिन् प्रत्ययस्य च[7]।
स्नेहेन भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते बुधैः।।

2 1 2. रधादिगणीय भञ्जो आमर्दने[8] धातु से बाहुलकात् करण मे क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति की सिद्धि होती है।[9] जिसका अर्थ होता है प्रणाशिका-शक्ति, भवबन्धनविनाशिका, आत्मरजस्तमोपहा, मृत्युपाशविशातिनी आदि। श्रीमद्भागवत पुराण मे विस्तार से इस भवबन्धनविच्छेदिका भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया हे –

भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा'[10]

अर्थात् चित्त के तमोगुण और रजोगुण का नाश करने वाली भक्ति प्रकट हो गई है। वही पर भक्ति को शोक, मोह एवं भय को विनाश करने वाली कहा गया है।

यास्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।[11]
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोक मोहनभयापहा।।

अर्थात् भगवतद्गुणकथा के श्रवण मात्र से परमप्रभु मे भक्ति उत्पन्न होती है जो शोक, मोह एव भय का अपहरण करने वाली, विनाश करने वाली है। भक्तामर स्तोत्र ६ मे इस स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है–

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं।
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।।

213 चुरादिगणीय भज–विश्राणने धातु से भी निपातन से भक्ति की सिद्धि की जा सकती है, जिसका अर्थ है सिद्ध स्वरूप, कामादि से अलग हो जाना आदि। भक्ति सिद्धि स्वरूप है परमसिद्धिविभूषिता है। जैनवाङ्मय में प्रथित भेदविज्ञान की कारयित्री अथवा निषादिका है। भेदविज्ञान का अर्थ है -- आत्मा से कर्म ससार को, पौद्गलिक जगत् को कारयित्री अथवा निष्पादिका है। भेदविज्ञान की कारयित्री अथवा निष्पादिका है। भेदविज्ञान का अर्थ है – आत्मा से कर्म संसार को, पौद्गलिक जगत् को अलग करना। भक्ति इसी की निष्पत्ति रूपा है अर्थात् भक्ति मे इन्द्रियां या इन्द्रियवृत्तिया विश्रान्त हो जाती है। केवल शुद्ध स्वरूप बच जाता इसीलिए महामहिम आचार्य शाण्डिल्य ने आत्मा शुद्ध स्वाभाव मे रमण करना या अविरोध

आत्मरति को भक्ति कहा है --

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य[12]। भक्ति से शुद्ध आत्म रूप की लब्धि होती है, व्यक्ति या भक्त आत्मरण सामर्थ्य से संयुक्त हो जाता है, इसलिए भक्ति को महालाभ कहा गया है – भक्तिरेव परोलाभ[13]।

2 1 4. चुरादिगणीय 'भजिभासार्थे' भाषार्थो वा[14] धातु से भी क्तिन् प्रत्यय करने पर निपातन से भक्ति शब्द निष्पन्न किया जा सकता है, जिसका अर्थ है – प्रकाश, दीप्ति, चेतना आदि। अर्थात् जहा आत्मप्रकाश प्रकाशित हो जाए उसे भक्ति कहते है।

तात्पर्य यह है भक्ति सेवा, अनुराग, एव भवबन्धनविनाश तथा आत्मप्रकाश रूप है। भक्ति की चारो व्युत्पत्तिया वस्तुत एक–दूसरे के पूरक है। इन्हे दो भाग मे रखा जा सकता है – 1 सेवा रूपा भजसेवारस्याम् से निष्पन्न। 2 भवबन्धनविनाशिका, आत्मरतिरूपा तथा आत्मप्रकाशित का – शेष तीन धातुओ से निष्पन्न। प्रभु, समर्थ, गरू, ईश्वर, जिनेन्द्र आदि पुरूषो की सेवा, गुणकीर्तन से भवबन्धन का विनाश तथा आत्मरति एव आत्मप्रकाश की प्राप्ति – यह क्रम होता है। अर्थात् साधन–साध्य भाव है। कहीं पर साध्य–साधन भाव भी देखा जा सकता है, अर्थात् आत्ममल अथवा भवबन्धन के शिशिल होते ही प्रभु गुण कीर्तन, प्रभु–सेवा प्रारम्भ हो जाती है।

3. भक्ति का स्वरूप

भारतीय–वाड्मय मे भक्ति का विस्तार से विवरण मिलता है। महामति शाण्डिल्य ने लिखा है – सा तु परानुरक्तिरीश्वरे[15] अर्थात्

समर्थ के प्रति, प्रभु के प्रति निरतिशय प्रेम को, अनन्यानुरक्ति को भक्ति कहते है। पूजादि मे अनुराग ही भक्ति है – पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः[15] गर्गाचार्य ने भगवद्गुणकीर्तन मे, कथा मे अनुराग को भक्ति कहा है – कथादिष्विति गर्ग.[17]। अविच्छिन्न रूप से आत्मरति मे स्थित रहन ही भक्ति है।[18] भगवान् मे सारे कर्मो का अर्पण करना तथा भगवान् से थोडा सा भी वियोग होने पर परम व्याकुल होना नारद की दृष्टि मे भक्ति है–

नारदस्तु तदर्पिताखिला चारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति[19] वह परमप्रेमस्वरूपा, अमृतस्वरूपा[20] तथा लौकिक–वैदिक कर्मो का न्यास रूपा[21] है। अर्थात् भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। जब हृदय मे भक्ति का वास हो जाता तथा प्राणियों के प्रति उसमे प्रेम उत्पन्न हो जाता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है। सब कुछ प्रभुमय बन जाता है।

श्रीमद्भगवतमहापुराण भक्ति का शास्त्र है। इस पुराण में भक्ति की सर्वांगीण व्याख्या की गई है। वहा पर समुद्रोन्मुखी गंगाप्रवाह की तरह सर्वात्मना अखिलेश्वर में अविच्छिन गति को भक्ति कहा गया है तथा मुक्ति से भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की गई है--

मद्गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्म्भसोऽम्बेधै।।[22]

प्रभु मे, समर्थ प्रभु में निष्कारण और अप्रतिहत रति भक्ति है जो मनुष्यो के लिए परम पुरूषार्थ है तथा जिससे परमानन्द की प्राप्ति होती है --

स वै पुंसा परो धर्म यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति।।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्।।[23]

अर्थात् प्रभु मे कामना रहित एव अविच्छिन्न रति ही भक्ति है, उससे ज्ञान और वैराग्य की उत्पत्ति होती है। भागवत

भगवान् ने ही भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला है–

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति -
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः श्रुदपायोनुघासम्।।[24]

अर्थात् जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवनशक्ति का सचार) और क्षुधा निवृत्ति ये तीनो एक साथ होते जाते है, वैसे ही जो मनुष्य भगवान् की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है उसे भजन के प्रत्येक क्षण मे भगवान् के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभु के स्वरूप का अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओ मे वैराग्य इस तीनो की एक ही साथ प्राप्ति होती जाती है।

आचार्य शकर ने स्वस्वरूपानुसन्धान को भक्ति कहा है जो मोक्षसाधक सामग्रियो (ससाधनो) मे श्रेष्ठ है। विवेकचूडामणि का वाक्य द्रष्टव्य है।

मोक्षकारणसामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।[25]
स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भगवदाकारता को भक्ति कहा है–

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।[26]

अर्थात् भगवाद्गुणकथाश्रवणादि से द्रवीभूत हुए चित्त की सर्वेश्वर भगवान् के विषय में धारावाहिकता को प्राप्त (तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से भगवदाकार हुई) वृत्ति ही भक्ति है। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति की ग्यारह अवस्थाओ की चर्चा की है। जिन्हे भूमिका के नाम से अभिहित किया है–

प्रथमम्महतां सेवा तद्दया पात्रता ततः।
श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः।।
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।[27]
प्रेमवृद्धिः परानन्दे, तस्याथ स्फुरणं ततः।।
भगवद्धर्म निष्ठा अतस्विसिमं स्तद्गुणशालिता।
प्रेणाऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः।।

अर्थात् 1 महापुरुषो की सेवा, 2 महापुरुषो की दया का पात्र होना, 3 उनके धर्मो मे श्रद्धा, 4 भगवद्गुणश्रवण, 5 भगवद्भक्ति मे रति का अकुरण, 6 तत्वस्वरूप को समझना, 7 भगवत्प्रेम का बढना, 8 भगवद्दर्शन, 9 भगवद्धर्म मे निष्ठा, 10 भगवद्गुणो को अपने मे लाना, 11 प्रेम की पराकाष्ठा हो जाना आदि ये भक्ति की भूमिकाए कही गई है।

रूपगोस्वामी के अनुसार जो अन्यान्य (भक्ति के अतिरिक्त) समस्त कामनाओ से रहित है, ज्ञान, कर्म एव योग से जो अनावृत है, अनुकूल भाव से जो कृष्ण का अनुशीलन है वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृत्तम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।[28]

अर्थात् ईश्वर के माहात्म्य का बोध होन पर उसके प्रति सुदृढ एव सर्वाधिक स्नेह होता हे, वही भक्ति हे जो मुक्ति . (उसके अतिरिक्त मुक्ति कुछ नहीं है।)

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय मे प्रभु चरण मे अ[illegible] अनन्यप्रेम, दृढ श्रद्धा, अकाट्य सम्बन्ध तथा सर्वस्व [illegible] है।

3. **जैनवाङ्मय में भक्ति** -- [illegible]
प्रभूत व्याख्या की गई है। [illegible]

भक्ति का ही अपराभिधान है। सेवा, श्रद्धा, अनुराग समर्पण, आराधना, पूजा, अर्चना, वदना, अभ्यर्थना, भावविशुद्धि आदि शब्द भक्ति के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त मिलते है। अभिधान राजेन्द्रकोश मे भक्ति को सेवा माना गया है – सेवाया भक्ति र्विनय[31] निशीथचूर्णि मे निर्दिष्ट है --

अब्भुट्ठाणदंडग्गण पायपुंछणासणप्पदाण गहणादीहिं सेवा जा साभात्ति[32] ।

नियमसार मे भक्ति की परिभाषा दी गई है –

मोक्खं गयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।।[33]

अर्थात् मुक्त पुरुषो के गुणों को जानकर उन पर श्रद्धा करता है, विश्वास करता है वह व्यवहारनय से भक्ति है। अर्थात् मुक्त, सिद्ध के गुणो पर श्रद्धा ही भक्ति है। तात्पर्य वृत्ति मे लिखा है–

निजपरमात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रय परिणामेषु भजन भक्तिराराधना इत्यर्थ ।[34] निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान–अवबोध–आचरण स्वरूप रत्न त्रय परिणामो का भजन ही भक्ति है जो आराधना रूप है। समयसारतात्पर्यवृत्ति मे भक्ति को भावना रूप मे स्वीकार किया गया है -- 'निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीना शुद्धात्मतत्त्व भावना रूपाचेति'[35] ।

सर्वार्थद्धिकार ने भाव–विशुद्धता से युक्त अनुराग को भक्ति कहा है – भावविशुद्धियुक्त अनुरागो भक्ति[36] अर्थात् भावो की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना भक्ति है। भगवती आराधना कह विजयोदया टीका के

अनुसार– अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति[37] अर्थात् अर्हत् आदि के गुणो मे अनुराग रखना भक्ति है। वह भक्ति दर्शन विशुद्धि पर ही उत्पन्न होती है। धवला का वचन है –

ण च एसा दंसणविसुज्झदादीहिं विणा संभर्व[38]।

आवश्यक टीका मे निर्दिष्ट है।

भत्तीइ जिणवराणं परमाए खीण पिज्जदोसाणं।[39]
आरुग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावेंति।।

अर्थात् राग–द्वेष आदि दोषो से रहित जिनवरो की परमा (श्रेष्ठा) भक्ति से आरोग्य, बोधिलाभ और समाधिमरण की प्राप्ति होती है।

जिनभक्ति को सकल कर्मविनाशक कहा गया है। 'भत्तीइ जिणवराण खिज्जती पुव्वसचिया कम्मा'[40] अर्थात् जिनवरो की भक्ति से सारे पूर्व सचित कर्म समाप्त हो जाते है। उपसर्गहरस्तोत्र मे नमस्कारात्मिका भक्ति का स्वरूप निर्दिष्ट है –

चिट्ठउ दूरे मंतो तुज्झ पणामो वि बहुफलोहोई।
नरतिरिएसु विजीवा पावंति न दुक्खदोगच्चं।।[41]

अर्थात् मंत्र बहुत दूर ही रहे, तुम्हारा प्रणाम भी बहुफलदायक होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चादि योनियो मे भी जीव दुःख-दुर्गति को प्राप्त नही करते है।

3.1. **भक्तमर स्तोत में भक्ति का स्वरूप** -- भक्तामर भक्ति का शास्त्र है। मात्र 48 श्लोको मे ही भक्ति के स्वरूप, प्रकार लक्ष्य, साधन आदि सभी अगो की चर्चा उपलब्ध हो जाती है।

भक्तामर के तीन स्थलो पर भक्ति शब्द का प्रयोग है। दो स्थलो पर अन्य शब्दों के साथ .–

1 भक्तिवशात् (5), 2 भक्तिरेव (6) तथा एक स्थल पर स्वतत्र रूप से तृतीया विभक्ति मे प्रयुक्त है– भक्त्या (48)।

विश्लेषण--

1. **सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश**
   कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।।
2. **अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम**
   त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।

उपयुक्त दोनो पक्तिया भक्ति के स्वरूप एव महत्त्व पर पूर्णतया प्रकाश डालती है। भक्ति वह शक्ति है जिसको प्राप्त कर लेने के बाद समर्थहीन व्यक्ति भी प्रभूत सामर्थ्य का स्वामी हो जाता है, परमैश्वर्यविभूति सम्पन्न बन जाता है। भक्ति वह आत्मा की शक्ति है, जिससे संबंधित होकर व्यक्ति घोर ससारसागर को सहजतया पार कर जाता है प्रथमतया ससार की भयानकता को देखकर जो व्यक्ति डरा था, कायर बन गया था वह भक्ति की शक्ति को प्राप्त कर विभूति–वैभव सम्पन्न हो जाता है, मुक भी मुखर हो उठता है। त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरूते बलान्माम् की साधु संघटना स्वय भक्त के हृदय धरातल पर घटित होने लगती है।

हृदय मे भक्ति के अवतरण होते ही ससारभय समाप्त हो जाता है। भागवतकार कहते है –

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।[42]
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङिघ्रमभयं प्रवृणीत लोकः।।

तभी तक जीव को धन, जन और बन्धुजनो के कारण से प्राप्त होने वाले भय, शोक, लालसा, दीनता और महालोभ सताते है, तभी तक सभी दुखें का कारण मै मेरेपन का दुराग्रह रहता है, तब तक वह जीव आपके अभयप्रद चरणारविदों का आश्रय नही ले लेता है।

यही दशा भक्तामरकार मानतुङ्ग, भागवत के गजेन्द्र, उत्तरा, अर्जुन एव महाभारत की द्रोपदी की होती है। गजेन्द्र को तभी तक ग्राह का सकट सताता है, मृत्यु–भय भयभीत करता है जब तक उसके हृदय मे भक्ति के बीज अकुरित नही होते है। भक्ति के उत्पन्न होते ही ससारभय समाप्त हो जाता है–

एवं व्यवसितो बुद्धया समाधाय मनोहृदि।[43]
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्।।

गजेन्द्र ने अपनी बुद्धि से निश्चय कर एव मन को हृदय मे अवस्थित कर (समाहित कर) पूण जन्म मे सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्र के जप के द्वारा भगवान् की स्तुति करने लगा। भक्तामरकार की भी यही दशा होती है। वंसा हुआ वह ससारिक जाल मे, बिल्कुल असक्त, असमर्थ, असहाय रूप मे। लेकिन जैसे ही प्रभु की स्मृति आती है वैसे ही वह समर्थवान् वन जाता है – महती यात्रा मे प्रवृत्र हो जाता है – कर्तुस्तव विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ।

3.2 **भक्तामर के टीकाकारों की दृष्टि में भक्ति** -- भक्तामर मे प्रयुक्त भक्ति शब्द की व्याख्या भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारो ने की है–

1 श्री गुणाकर सूरि ने भक्ति शब्द का अर्थ सेवा शुश्रुषा की है–

तवभक्ति वशात् – भवतो सेवाग्रहात् (5)

त्वद्भक्तिरेव – त्वच्छुश्रुषेव (6)

एक स्थल पर भक्ति का अर्थ अनन्यभाव किया है–
भक्त्या – भावपूर्वमया (48) अर्थात् अनन्य भाव पूर्वक

2 महामहोपाध्याय मेघविजय जी ने भक्ति का अर्थ अनुराग, आन्तरप्रीति आदि किया है –
भक्तिवशात् – आन्तरप्रीतिबलात् (5)
त्वद्भक्ति· – तवानुरागः (6)

3 श्री कनककुशलगणि ने हृदय के आन्तरिक भाव, राग आदि को भक्ति कुहा है–
भक्तिवशात् – आन्तरभावतः (5)
त्वद्भक्ति – त्वद्राग· (6)

इस प्रकार भगवच्चरणो मे, जिनेश्वर में हृदय के भावो का अविच्छिन्न समर्पण अथवा सम्बन्ध भक्ति है। जहा सम्पूर्ण वृत्तिया इच्छाए प्रभु मे ही समर्पित हो जाए, अर्पित हो जाए उसे, भक्ति कहते है। भकितरसारमृतसिधुकारकी पक्तिया द्रष्टव्य है–

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृनम्[44]
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

अर्थात् किसी भी प्रकार की अन्य कामनाओ से रहित ज्ञान, कर्मो से अनावृत सर्वथा अनुकूल भावना से, आन्तरप्रीति से, मनसा, वाचा और कर्मणा कृष्ण का सेवन (प्रभु सेवा) उत्तमा भक्ति कहलाती है।

4. भक्ति और सेवा

सेवा शब्द सेवा, शुश्रूषा, विश्वास, भरोसा, पूजा, अनुसरण आदि अर्थो मे प्रयुक्त होने वाली भ्वादिगणीय 'सेवृ–सेवने'[45] धातु से अड्

(अ) एव टाप् प्रत्यय करने पर बनता है जिसका अर्थ है परिचर्या, पूजा, श्रद्धाजलि, सम्मान, भक्ति आदि।[46] भक्ति और सेवा दोनो मे ध रातलीय सम्बन्ध है, अर्थात् दोनो हृदय के धरातल पर ही उत्पन्न होते है। हृदय के योग के बिना सेवा हो ही नही सकती है। भक्ति मे प्रभु चरण की सेवा अनिवार्यतया की जाती है। सेवा का तात्पर्य हृदय की शुद्धभावना से है। जिसमे हृदय का योग हो वही सेवा है। इसीलिए भक्ति साहित्य मे पादसेवन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो प्रभुचरण की सेवा करता है वह अनायास ही उन्हीं चरणकमलो को नौका बनाकर सुदुस्तर ससार समुद्र को पार कर जाता है –

यत्पाजपंकजपलाविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्धिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णवम्।।[47]

अर्थात् सत महात्मा प्रभु के चरणकमल के अंगुलिदल की छिटकती हुई छटा का स्मरण करके कर्मो से गठित हृदय ग्रन्थि को छिन्न–भिन्न कर डालते है।

भगवान् के आराधनीय (सेव्य) चरणकमलो को नौका बनाकार अनायास ही इस दुस्तर समुद्र को पार कर लो।

प्रसिद्ध जैनविद्वान् आचार्य शान्तिसूरि ने भगवन्नमस्कार को सेवा कहा है – सेवा–नमंसणाइ।[48]

जेन दर्शन मे दो प्रकार के तप हैं – 1 बाह्य और 2 अभ्यन्तर अभ्यन्तर तप मे वैयावृत्य की परिगणना की जाती है। वैयावृत्य का अर्थ सेवा, शुश्रुषा, पर्युपासना, साधर्मिक वात्सल्य आदि है। आचार्यकुन्दकुन्द ने वैयावृत्य (सेवा) को भी भक्ति कहा है। उनका कथन है –

णियसत्तीए महाजस भतीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं।।[49]

अर्थात् हे महायश! मुने! जिनभक्ति मे तत्पर होकर भक्ति एव रागपूर्वक उस उस भेद रूप वैयावृत्य को सदाकाल तू अपनी शक्ति के अनुसार कर।[49] श्री शिवार्य ने लिखा है कि सेवा (वैयावृत्य) से भक्ति पूर्ण होती है –

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्तीय।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्तीय।।[50]

अर्थात् सेवा से, वैयावृत्य से अरहत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय एव सभी साधुओ की भक्ति पूर्ण होती है। सेवा (वैयावृत्य) से तीर्थकर नामगोत्र का उपार्जन किया जा सकता है। ज्ञाताधर्म, आवश्यक-निर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र आदि मे तीर्थकर-नाम गोत्र कारक साधनो मे सेवा को महत्त्वपूर्ण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे निर्दिष्ट है –

वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोयं कम्मं निबंधेई[51]।

इस प्रकार सेवा भक्ति का प्रमुख अग है। सेवा से हृदय विशुद्धि होती है जो भक्ति की उत्पत्ति के लिए प्रथम आवश्यकता है। इसलिए सभी शास्त्रो मे सेवा को प्रमुख स्थान दिया गया है।

5. भक्ति और अनुराग

अनु उपसर्ग पूर्वक भ्वादिगणीय रञ्ज रागे[52] धातु से घञ् प्रत्यय करने पर अनुराग शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है भक्ति आसक्ति, निष्ठा, प्रेम, स्नेह आदि।[53]

अनुरूपो राग अनुराग अर्थात् अनुरूप -- आत्मगुणो के अनुरूप राग–आसक्ति ही अनुराग है। तात्पर्य है जो आसक्ति या राग वाह्य भोतिक संसार को छोडकर आत्मिक जगत् मे हो या समर्थप्रभु चरणो मे हो वह अनुराग है। अनुगतो राग अनुराग अर्थात् प्रभु

चरणों में अनुगत राग अनुराग है अनुराग प्रशस्तराग है, उत्कृष्ट राग है। ऊर्ध्वमुखीराग अनुराग कहलाता है। जिसमे संसारिक विषय काम्य नहीं होते, केवल होता है समर्थ से, प्रभु से, आत्मा से कभी न समाप्त होने वाला सम्बन्ध। भक्ति अनुराग रूपा ही है। प्रभु चरणो मे अनन्त आसक्ति, अविच्छेद्य राग ही भक्ति है। जो अनुराग की पृष्ठभमि में ही व्युत्पन्न है। सर्वार्थ सिद्धिकार और विजयोदया टीकाकार ने अनुराग ही भक्ति है। तैलधारावत् राग ही भक्ति है। भक्ति के आचार्यो ने इस ओर निर्देश दिया है। अनुराग शब्द का तात्पर्यार्थ प्राप्ति एव उपलब्धि है। जब किसी समर्थ पद की प्राप्ति हो जाए उसे अनुराग आदि रूपो से अनेक प्रकार का होता है। इस प्रकार समर्थ पद मे अविच्छिन्न राग को अनुराग कहते है और भक्ति मे यही सघटित होता है।

6. भक्ति और विनय

विनय शब्द वि उपसर्ग पूर्व नीञ् प्रापणे धातु से अच् करने पर बनता है। वि उपसर्ग का प्रयोग विशिष्टता सम्पादन के लिए किया गया है। विन का शब्दिक अर्थ है – औचित्य, शिष्टाचार, शालीनता, विनम्रता आदि। विनय कोई बाहरी आरोप न होकर हृदय की अव्यक्त वाक् है जो केवल भावरूप होने से [illegible] है। जब चेतना परिरकृत एव सस्कारित हो जाए तब विनय की [illegible] प्रारम्भ होती है। अहकार का विलय ही विनय की प्रथम भूमिका है। भक्ति आर विनय एक ही सिक्के के दो पहलू है। प्रभु से तादात्म्य स्थापित करना भक्ति है तो प्रभु चरणों में विनय प्रतिष्ठित हो जाना, गुरु किंवा आचार्य [illegible] है। विनय [illegible] [illegible]

स्वीकार किया गया है।

विणओ सासणेमूलं[54]

दशवैकालिक मे विनय को धर्म का मूल स्वीकार गया है – म्मस्य विणओ मूलं[55]

इस प्रकार भक्ति और विनय मे अविच्छेद्य संबंध है।

7. भक्ति और रति

रति शब्द भ्वादिगणीय रमु क्रीडायाम्[56] धातु से क्तिन् प्रत करने पर बनता है, जिनका अर्थ है -- आनन्द, खुशी, सन्तोष, ह स्नेहशीलता भक्ति, अनुराग प्रेम आदि। जिस प्रकार भज् धातु निष्पन्न भक्ति भजन रूप है – भजन भक्ति., उसी प्रकार रम् ध से निपन्न रति शब्द रमण रूप है – रमण रति। वह आनन्द स्व है, परमानन्द रूप है। सामान्यत रति के दो रूप पाए जाते है 1 इन्द्रिय विषय सुख मे रमणस्वरूपा रति तथा 2 आत्मसुख रमण रूप रति। इन्द्रिय सुख क्षणिक और दु ख पर्यवसायी इन्द्रिय–रति दु ख स्वरूप एव बन्धन रूप है, परन्तु आत्म परमानन्द रूप है, सच्चिदानन्द रूप है। इन्द्रिय–रति अहकार से होती है और अहकार के समाप्त होते ही वह भी समाप्त हो ज है, लेकिन आत्म-रति अह-विलय और मोह-भग के बाद ही प्रा होती है, लेकिन इसका अन्त उस परम के निकेतन मे होता ऐश्वर्य के धाम मे होता है जहा केवल आनन्द ही अवशिष्ट रह है। यही आत्मरति भक्ति का पर्याय है। तात्पर्य है कि जब र विषयोन्मुखी हो, बाह्य जगत् की ओर हो तो वह आसक्ति क जाती है लेकिन जब आत्मा की ओर हो प्रभु की ओर हो, वह भ वन जाती है। केवल मार्ग के रूपान्तर होते ही सब कुछ रूपान्त तो ही जाता है, किसी महान् विभूति की सहजसभूति भी हाथ ल जाती है। रति भक्ति रूप है और भक्ति का मूल भी है।

8. भक्ति और श्रद्धा

श्रद्धानं श्रद्धा अर्थात् आस्था, निष्ठा विश्वास, भरोसा, आदर, सम्मान आदि श्रद्धा शब्द के वाच्यार्थ है। श्रद्धा समत्व का, रसमयता का, अद्वैतता का वह माधवी-भूमि है। जहा पर समस्त कालुष्य, द्वैतता, पैशुन्यता का पूर्णतया विरसन हो जाता है, केवल शेष होता है, विश्वास का पौघ – जिसकी छाया मे सम्पूण्र सृष्टि की साधु घटनाए घटित होती है। श्रद्धा वह पारसरत्न है जिसके सस्पर्श मात्र से विरसता, कटुता और मनोमालिन्य रूप पत्थर समरसता और आनन्द रूप रत्न बन जाते है। श्रद्धा वह दिव्यभूमि है जहा पर केवल आनन्द रूप रत्न बन जाते है। श्रद्धा वैसी वीणा है जो विपन्नता मे, सम्पन्नता मे, दु ख मे, सुख मे, सर्वत्र परमैश्वर्य का, परमाह्लाद का तार तरगित करती है। श्रद्धा का महत्त्व सर्वस्चीकृत है–

श्रद्धा धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धाज्ञानं हूतं तपः।
श्रद्धा स्वर्गञ्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्।।[57]

अर्थात् श्रद्धा परम धर्म है, सूक्ष्म ज्ञान है, परम आहूति है, तप है, स्वर्ग हे और मोक्ष है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् श्रद्धामय है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अश्रुवीणा मे श्रद्धा का स्वरूप समुद्घाटित किया हे।[58]

भक्ति श्रद्धा के बिना हो ही नही सकती। भक्ति के आचार्यो ने श्रद्धा को भक्ति का मूल माना है। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रद्धावान् को ही ज्ञान का अधिकारी माना है ––

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।[59]
ज्ञानं लब्धवा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

भागवत पुराण मे श्रद्धा और रति को भक्ति का मूल कहा [illegible] है–

सतां प्रसंगान्ममवीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।।

सत्पुरूषो के समागम से भगवान् के पराक्रम का ज्ञान कराने वाली तथा हृदय और कानो को प्रिय लगने वाली कथाएं होती है, उनका सेवन करने से शीघ्र ही मोक्षमार्ग मे श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमश विकास होता है। श्रद्धा किसी अज्ञात परन्तु समर्थ को पकड लेने की कला है। मानतुग को पूर्ण विश्वास है अपने प्रभु पर कि वह मेरा प्रभु संसार के जीवो के सम्पूर्ण दु खो का विनाशक है, उसका चरणकाल सबका आश्रय है। भक्तामर स्तोत्र का प्रथम श्लोक श्रद्धा की भूमिका पर ही सभूत है। भक्त पूर्ण निष्ठा के साथ कहता है।

भक्तामरप्रणतमौलिमणि प्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपाप तमोवितानम्
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं भुगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।

श्रद्धा अज्ञात की तरफ पैर उठाने की साहस का नाम है तो भक्ति अज्ञात की प्राप्ति का अभिधान है। श्रद्धा है – अनजान मे प्रवेश, अज्ञात मे प्रवेश है, जहां कभी नही गया, जो कभी नहीं हुआ वह भी हो जाता है।

9. भक्ति और संयम

सयम शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक भ्वादिगणीय 'यम उपरमे' एव 'चुरादिगणीय यम–परिवेषणे'[61] धातुओ से अप् (अ) प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है – प्रतिवध, रोकथाम, नियत्रण, मन का नियत्रण, एकाग्रता, धार्मिकव्रत, भक्ति, तपस्साधना आदि।[62] इन्द्रियवृत्तियो को रोकना, प्रतिबन्धित करना सयम है। मन की एकाग्रता, एकन्निष्ठता सयम है। **संयमन संयमः** अर्थात् आतमनियत्रण

अथवा विषयनिरोध सयम है। जीतकल्पभाष्य मे सयम की परिभाषा दी गई है –

सं एगीभावम्मि जम उवरम एगभाव उवरमणं।[63]
सम्मं जमो वा संजमो मण वइकायाण जमणं तु।।

अर्थात् एकान्तत उपरति सयम है। मन, वचन, काय का सम्यक् सयमन (नियमन) सयम है। धवला मे सम्यक् नियत्रण को सयम कहा गया है – सम्यक् यमो वा सयमः।[64]

भगवान् पतजलि ने सयम की परिभाषा दी है। त्रयमेकत्र सयम[65] अर्थात् किसी एक ही ध्येय पदार्थ मे धारणा, ध्यान और समाधि तीनो की ही समुदाय रूप से प्रवृत्ति होती है उसे सयम कहते है। तात्पर्य है कि विषय विराग संयम है। मन और इन्द्रियो को नियत्रित करना सयम है।

भक्ति का प्रारम्भ ही विषयो के विनाश एवं इन्द्रयों के थम जाने पर ही होता है। सयम निरोध है और भक्ति भी निरोध रूप ही है। इसमे सारे इन्द्रिय विषय, कामनाए समाप्त हो जाती है -- सा न कामयामाना निरोधरूपत्वात्।[66] जहा चित्त, इन्द्रिया सब कुछ छोड दे, अपने व्यापार से विरमित हो जाए उसे ही भक्ति कहते है। गोपियां कहती है–

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा।।

अर्थात् हे प्रियतम! हमारा चित्त आनन्द से घर के [illegible]सक्त हो रहा था, उसे तुमने चुरा लिया। हमारे हा[illegible] मे लगे थे, वे भी चेष्टाविहीन हो गए और हमारे [illegible]दमो को छोडकर एक पग भी हटना नहीं चाहते।

कैसे जाएं और घर जाकर क्या करे।

देवर्षि नारद ने भक्ति को विषयत्याग और सगत्याग रूप स्वीकार किया है –

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च।[68]

इस प्रकार सयम भक्ति के लिए अनिवार्य अग है। भक्ति के अगो मे सयम का निर्देश है.–

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।[69]

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।।

अर्थात् दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, सयम और अन्य श्रेय साधनो के द्वारा कृष्ण भक्ति पूर्ण होती है।

10. भक्ति और गुणकीर्तन (भजन, स्तोत्र आदि)

भजन, स्तुति, स्तोत्र, गुणकीर्तन आदि शब्द पर्यायार्थक है। इन सबमे प्रभु के, समर्थ के गुणो का सगान अपेक्षित होता है। प्रभु के गुणो के सगान से भक्ति प्रबृद्ध होती है, पूर्ण होती है। नाम सकीर्तन मे समर्थ के गुणो को गायन होता है। उनके गुणो के गान से भक्त मे अद्भूत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, जिस सामर्थ्य को पाकर भक्त अनन्त और अथाह मे स्थित गुणानुरूप प्रभु को प्राप्त करने के लिए अज्ञात की ओर प्रस्थान कर जाता है। प्रभु गुणो के स्मरण से, उनके प्रति श्रद्धा तब भक्ति उत्पन्न होती है। आचार्यो ने गुण स्मरण को, गुणकीर्तन को भक्ति और ज्ञान का जनक कहा है –

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोति अभद्राणि च शं तनोति।[70]
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्।।

अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरणारबिन्द के अनवरत स्मरण से जीव के सारे पाप समाप्त हो जाते है, कल्याण साधित होता है, शुद्धि होती है, परमात्माभक्ति और विज्ञान वैराग्य युक्त ज्ञान उत्पन्न होते है। जिसके हृदय मे भगवान् नाम रूप नागदमनी (जडी विशेष) विद्यमान है उसका ससारसर्प क्या विगाड सकता है।

त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः।[71]

इस प्रकार भक्ति और भजन, स्तोत्र, कीर्तन आदि मे साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। कीर्तनादि साधनों से परमा-भक्ति सिद्ध होती है।

11. भक्ति और ध्यान

ध्यान शब्द भ्वादिगणीय ध्यै चिन्तायाम्[72] धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है मनन, विचार, विमर्श, चिन्तन, विशेष रूप से धार्मिक चिन्तन, एकाग्रता आदि।[73] ध्येय मे चित्तवृत्ति को एकाग्र करना ध्यान है -- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। ध्यये पदार्थ मे सदैव धारा प्रवाह रूप से एक ही वृत्ति का बना रहना, अन्यवृत्ति का उदय न होना ध्यान है। तात्पर्य है कि ध्यान मे दो वाते आवश्यक है –

1 ध्येय मे एक निष्ठता तथा

2 ध्येय को छोडकर अन्य वृत्तियो का शमन। भक्ति मे इन दोनो रूपो की आवश्यकता होती है। जब एक स्वामी मे, भगवान् मे एक निष्ठता न हो, एक वृत्ति न वन पाए तव तक भक्ति हो ही नहीं सकती है। इसलिए ध्यान की प्रथम अवस्था – एक निष्ठता भक्ति की मूल भूमि हे।

दूसरी अवस्था है -- अन्यवृत्तियों का शमन। भक्ति भगवच्चरणाविन्द को छोडकर भक्त हृदय मे और कुछ शेष न होता। यह भी कह सकते हैं कि सभी विषयों, कामनाओ का शमन या परित्याग के वाद ही भक्ति प्रारम्भ होती ह। गा।५

कैसे जाए और घर जाकर क्या करे।

देवर्षि नारद ने भक्ति को विषयत्याग और सगत्याग रूप स्वीकार किया है –

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च।[68]

इस प्रकार सयम भक्ति के लिए अनिवार्य अग है। भक्ति के अगो मे संयम का निर्देश है–

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।[69]
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।।

अर्थात् दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, सयम और अन्य श्रेय साधनो के द्वारा कृष्ण भक्ति पूर्ण होती है।

10. भक्ति और गुणकीर्तन (भजन, स्तोत्र आदि)

भजन, स्तुति, स्तोत्र, गुणकीर्तन आदि शब्द पर्यायार्थक है। इन सबमे प्रभु के, समर्थ के गुणो का सगान अपेक्षित होता है। प्रभु के गुणो के सगान से भक्ति प्रबृद्ध होती है, पूर्ण होती है। नाम सकीर्तन मे समर्थ के गुणो को गायन होता है। उनके गुणो के गान से भक्त मे अद्भूत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, जिस सामर्थ्य को पाकर भक्त अनन्त और अथाह मे स्थित गुणानुरूप प्रभु को प्राप्त करने के लिए अज्ञात की ओर प्रस्थान कर जाता है। प्रभु गुणो के स्मरण से, उनके प्रति श्रद्धा तब भक्ति उत्पन्न होती है। आचार्यो ने गुण स्मरण को, गुणकीर्तन को भक्ति और ज्ञान का जनक कहा है –

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोति अभद्राणि च शं तनोति।[70]
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्।।

अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरणारविन्द के अनवरत स्मरण से जीव के सारे पाप समाप्त हो जाते है, कल्याण साधित होता है, शुद्धि होती है, परमात्माभक्ति और विज्ञान वैराग्य युक्त ज्ञान उत्पन्न होते है। जिसके हृदय मे भगवान् नाम रूप नागदमनी (जडी विशेष) विद्यमान है उसका ससारसर्प क्या विगाड सकता है।

त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ।[71]

इस प्रकार भक्ति और भजन, स्तोत्र, कीर्तन आदि मे साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। कीर्तनादि साधनो से परमा-भक्ति सिद्ध होती है।

11. भक्ति और ध्यान

ध्यान शब्द भ्वादिगणीय ध्यै चिन्तायाम्[72] धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है मनन, विचार, विमर्श, चिन्तन, विशेष रूप से धार्मिक चिन्तन, एकाग्रता आदि।[73] ध्येय मे चित्तवृत्ति को एकाग्र करना ध्यान है -- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। ध्यये पदार्थ मे सदैव धारा प्रवाह रूप से एक ही वृत्ति का बना रहना, अन्यवृत्ति का उदय न होना ध्यान है। तात्पर्य है कि ध्यान मे दो बाते आवश्यक है –

1 ध्येय मे एक निष्ठता तथा

2 ध्येय को छोडकर अन्य वृत्तियो का शमन। भक्ति मे इन दोनो रूपो की आवश्यकता होती है। जब एक स्थायी भ भगवान् मे एक निष्ठता न हो, एक वृत्ति न बन जाए तब तक भक्ति हो ही नहीं सकती है। इसलिए ध्यान की प्रथम अवस्था – एक निष्ठता भक्ति की मूल भूमि है।

दूसरी अवस्था है -- अन्यवृत्तियो का शमन। भक्ति मे भगवत्चरणारविन्द को छोडकर भक्त हृदय मे अन्य कुछ शेष नहीं होता। यह भी कह सकते है कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] या [illegible] के बाद ही भक्ति [illegible] [illegible], [illegible]

कैसे जाए और घर जाकर क्या करे।

देवर्षि नारद ने भक्ति को विषयत्याग और सगत्याग रूप स्वीकार किया है –

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च।[68]

इस प्रकार सयम भक्ति के लिए अनिवार्य अग है। भक्ति के अगो मे सयम का निर्देश है:–

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।[69]

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।।

अर्थात् दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, सयम और अन्य श्रेय साधनो के द्वारा कृष्ण भक्ति पूर्ण होती है।

10. भक्ति और गुणकीर्तन (भजन, स्तोत्र आदि)

भजन, स्तुति, स्तोत्र, गुणकीर्तन आदि शब्द पर्यायार्थक है। इन सबमे प्रभु के, समर्थ के गुणो का सगान अपेक्षित होता है। प्रभु के गुणो के सगान से भक्ति प्रबृद्ध होती है, पूर्ण होती है। नाम सकीर्तन मे समर्थ के गुणो को गायन होता है। उनके गुणो के गान से भक्त मे अद्भूत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, जिस सामर्थ्य को पाकर भक्त अनन्त और अथाह मे स्थित गुणानुरूप प्रभु को प्राप्त करने के लिए अज्ञात की ओर प्रस्थान कर जाता है। प्रभु गुणो के स्मरण से, उनके प्रति श्रद्धा तब भक्ति उत्पन्न होती है। आचार्यो ने गुण स्मरण को, गुणकीर्तन को भक्ति और ज्ञान का जनक कहा है –

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोति अभद्राणि च शं तनोति।[70]
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्।।

अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरणारबिन्द के अनवरत स्मरण से जीव के सारे पाप समाप्त हो जाते है, कल्याण साधित होता है, शुद्धि होती है, परमात्माभक्ति और विज्ञान वैराग्य युक्त ज्ञान उत्पन्न होते है। जिसके ह्रदय मे भगवान् नाम रूप नागदमनी (जडी विशेष) विद्यमान है उसका ससारसर्प क्या विगाड सकता है।

त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः।[71]

इस प्रकार भक्ति और भजन, स्तोत्र, कीर्तन आदि मे साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। कीर्तनादि साधनो से परमा-भक्ति सिद्ध होती है।

11. भक्ति और ध्यान

ध्यान शब्द भ्वादिगणीय ध्यै चिन्तायाम्[72] धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है मनन, विचार, विमर्श, चिन्तन, विशेष रूप से धार्मिक चिन्तन, एकाग्रता आदि।[73] ध्येय मे चित्तवृत्ति को एकाग्र करना ध्यान है -- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। ध्यये पदार्थ मे सदैव धारा प्रवाह रूप से एक ही वृत्ति का बना रहना, अन्यवृत्ति का उदय न होना ध्यान है। तात्पर्य है कि ध्यान मे दो बाते आवश्यक है –

1 ध्येय मे एक निष्ठता तथा

2 ध्येय को छोडकर अन्य वृत्तियो का शमन। भक्ति मे इन दोनो रूपो की आवश्यकता होती है। जब एक स्वामी मे, भगवान् मे एक निष्ठता न हो, एक वृत्ति न बन पाए तब तक भक्ति हो ही नही सकती है। इसलिए ध्यान की प्रथम अवस्था – एक निष्ठता भक्ति की मूल भूमि है।

दूसरी अवस्था है -- अन्यवृत्तियो का शमन। भक्ति मे भगवच्चरणाविन्द को छोडकर भक्त ह्रदय मे और कुछ शेष नहीं होता। यह भी कह सकते है कि सभी विषयो, कामनाओ के परिशमन या परित्याग के बाद ही भक्ति प्रारम्भ होती है। गोपियां

कहीत है 'हे प्रभो हम तो सारे विषयो को छोड़कर ही आपके चरणकमलो मे आई है।'

संत्यज्य सर्वविषयान् वन पादमूलम्।[74]

12. भक्ति और मंगल

मगल शब्द भ्वादि गणीय मगि–गत्यर्थे[75] धातु से अलच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है शुभ, भाग्यशाली कल्याणकारी, हितकाम, समृद्ध आदि।[76] पुण्य, पूत, पवित्र प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण शुभ और सौख्य आदि शब्द मंगल के पर्यायवाचक है।[77] तिलोयपण्णत्ति मे विस्तार से मगल शब्द की व्याख्या की गई है –

गालयदि विणासयदे धोदेदि दहेदि हंति सोधयदे।[78]
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं।।
अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।

अर्थात् जो मलो (पापो) को गलाता है, विनष्ट करता है, धातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है, विध्वस करता है इसलिएमगल कहते है। अथवा सुख को, पुण्य को लाता है वह मगल है। जो विघ्नो को नष्ट कर दे वह मगल है – मा गलो भूदिति मगलम्[79]। जो मडित करता है, विघ्नो का विनाश करता है वह मंगल से – मड्कयते अननेमन्यते वाउनेनेति मगलम्।[80] तात्पर्य है कि मगल से 1 पाप (विघ्न) का विनाश होता है, 2 आत्मा पवित्र होता है, 3 सुख, आनन्द की प्राप्ति होती है तथा 4 वह विभूषणस्वरूप है। भक्ति मे ये चारो गुण पाये जाते है – भक्ति पाप विनाशिका है, भवरोग धातिका है। प्रभु चरण की समृति आते ही सारे पाप-ताप समाप्त हो जाते हैं –'

यत्कीर्तन यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।[81]

अर्थात् भगवान् के गुणो का कीर्तन, स्मरण, उनका दर्शन, वन्दन, श्रवण, पूजन आदि से ससार के सारे पाप शीघ्र ही समाप्त हो जाते है, उस प्रभु को नमस्कार है। भक्ति भवरोगहन्त्री शक्ति है। भक्ति की व्युत्पत्ति प्रसग मे भी इस रूप पर प्रकाश डाला गया है।

मगल की द्वितीय अवस्था है आत्मा की पवित्रता। भक्ति मे पाप-ताप के विनिष्ट होते ही आत्मा स्वर्ण के समान पवित्र हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। भक्ति परमानन्द स्वरूप है, सुख रूप है, तथा आत्मा का विभूतिमय विभूषण है, इसलिए भक्ति परममगल है, मगल का भी मगल है।

13. भक्ति और महोत्सव -- महोत्सव शब्द महान् और उत्सव इन दो शब्दो के योग से बनता है। महाश्चासौ उत्सवश्च। महान् उत्सव, सतत सुखमय व्यापार आदि इसके अर्थ होते है। महान् आनन्द महोत्सव होता है। उत्सव तो आवसरीक होते है, समय पर आते है और समाप्त हो जाते है लेकिन महोत्सव उत्साह, प्रसन्नता, आनन्द का व्यापार है। भक्ति महोत्सव है, आत्मा का महोत्सव है, जहा पर केवल आनन्द, नित्यवर्धमान सुख एव क्षण-क्षण नवीन रमणीयता का ही आलम होता है। दु ख, दैन्य, दारिद्रय स्वयमेव दीनता और दरिद्र को प्राप्त हो जाते है, केवल शेष रहता है महोत्सव, केवल महोत्सव--

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्महतो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णव शोषणं नृणाम्
यदुत्तमश्लोक यशोऽनुगीयते।।[82]

अर्थात् भगवान् की जो यशोगाथा है (कीर्तन भक्ति) वही रम्य है, रूचिर है और हमेशा नवीन है, वही नित्य महोत्सव हे, वहीं मनुष्यो के शोकार्णव का शोषक है।

इस प्रकार भक्ति नित्य महोत्सव है।

14. भक्ति और मोक्ष -- मोक्ष शब्द मोक्ष असने[83] धातु से घञ् प्रत्यय करने पर बनता है। राजवार्तिककार ने मोक्ष की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा दोनो साथ-साथ निर्दिष्ट किया है–

'मोक्ष असने इत्येतस्य घञ् भाव साधनो मोक्षणं मोक्ष. असनं क्षेपणमित्यर्थ, स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।[84]

अर्थात् मोक्ष-असने धातु से भावसाधन में धञ् प्रत्यय से निष्पन्न मोक्ष शब्द कर्मो का क्षेपन विनाशन रूप है। सभी कर्मो के आत्यन्तिक क्षय को मोक्ष कहते है।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।[85]

सम्पूर्ण कल्मष कषायो से विनिर्मुक्त जीव जब आनन्दस्वरूप हो जाता है, आनन्दकी उपलब्धि हो जाती है वही मोक्ष होता है। यानि मोक्ष में कर्मविघर्षण आवश्यक है। भक्ति कर्मविघर्षण का श्रेष्ठ साधन है। भक्ति द्वारा सारे कर्ममल छूट जाते है, आत्मा पवित्र हो जाती है। वह कर्मकोशो को शीघ्र ही जलाकर समाप्त कर देती है। इसलिए आचार्यो ने भक्ति को सिद्धि से भी श्रेष्ठ माना है।[86]

आचार्य शंकर ने मोक्षसाधक सामग्रियो मे भक्ति को श्रेष्ठ कहा है।[87]

इस प्रकार भक्ति मोक्ष का साधन है। भक्ति मे भक्त प्रभुचरण कमल को छोडकर मुक्ति की भी कामना नहीं करता है।

15. भक्ति का वैशिष्ट्य

भक्ति तृप्ति का महासागर है, आनन्द की अम्बुधि है, रस का समुद्र है। जिस किसी ने भी, किसी घाट से इस महासागर मे प्रवेश किया, धन्य धन्य हो गया, कृत्पुण्य हो गया। भक्तिमति मीरा 'वसो मेरे नैनन मे नन्दलाल' के घाट से उस आनन्द के सागर मे निमज्जित हुई, कवीर राम की रमणीयता में समाहित हो गये, भक्त

मानतुग 'नित्योदय दलित पापतमोवितानम्' रूप जिनेश्वर चरण-युगल का आश्रय लेकर धन्य-धन्य हो गए, कृत्पुण्य हो गये। जिस किसी ने भी इस महासागर मे निमज्जन किया, सदा सर्वदा के लिए प्रभुपाद पद्मो मे विलीन हो गए। उस भक्ति का स्वाद, स्वरूप , वैशिष्ट्य, अनिर्वचनीय है, कहा नही जा सकता, अभिव्यक्ति का विषय नहीं बनता, केवल अनुभूति, गहन अनुभूति। गूगे के स्वाद के समान। भक्तराज नारद ने कहा था -- अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।[88] जो एक बार प्रेम समुद्र में, भक्ति के महासागर मे डूबकी मारा कि बस वही हो गया।

डूबै सो बोलै नहीं, बौले सो अनजान।
गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान।।

कुछ दीदावर होते है, भक्ति के कृपापात्र होते है जो यत्किञ्चित् उसका स्वरूप और उसकी गुणवत्ता के बारे में कह जाते है। उन्ही दीदावारो की, समर्थ पुरुषो की वाणी का आश्रयण कर भक्ति के वैशिष्ट्य का चित्रण किया जा सकता है।

15.1 भक्ति भवरोगहन्त्री है -- संसारिक जीव विविध दु.खो से, रोगो से पीडित है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जो त्रिविध तापो से तप्त न हो, ससार सागर के कष्टग्राहो के द्वारा बाधित न किया जाता हो। भक्ति, समर्थचरण मे रति, जिनेन्द्र प्रभु मे आसक्ति से भवरोग शीघ्र पलायित हो जाते है। सम्पूर्ण कल्मष-कषाय शीघ्र ही समाप्त हो जाते है। भक्तामर-स्तोत्र का मानतुङ्ग, संसार रूप ग्राह से ग्रस्त है, मृत्यु संकट उपस्थित है – वस वह अपने हृदय को सामने कर, अपने पाप-पुण्य को आगे कर प्रभु के यहां चला जाता है। उस परम के गृह मे जाना क्या हुआ, सारे वन्धन टुट गए, वह मुक्त

हो गया। प्रभु नाम मे इतना सामर्थ्य है कि सम्पूर्ण पाप ताप को शान्त कर देता है –

कल्पांत काल पवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्।।[89]

अर्थात् प्रलयकाल के प्रचण्डवायुवेग से उत्पन्न भीषण अग्निकाण्डवाला, ज्वलित, उज्ज्वल स्फुर्लिग विखेरता हुआ समस्त विश्व को निगल जाने की इच्छा रखने वाला दावानल को भी तुम्हारे नाम-कीर्तन रूप जल शीघ्र ही शान्तकर देता है।

आचार्य सिद्धसेन कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे कहते है–

आस्तामचिन्त्य महिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति!
तीव्रातपोपहतपान्थजनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि।।[90]

अर्थात् हे प्रभो! आपके स्तवन की तो अचिन्त्य महिमा है ही किन्तु आपके नाम मात्र लेने से यह जीव ससार के दुखो से बच जाता है, जैसे सूर्य ताप से प्रपीडित मनुष्य को कमल युक्त सरोवर ही नहीं अपितु उसकी शीतल हवा भी सुख पहुचाती है।

जन्मरूप उदधि को, ससार सागर को भक्त शीघ्र ही तर जाता है–

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना-
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।

जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन
चिन्त्यो न हन्त महतां यदिवा प्रभावः।[91]

15.2. भक्ति परम समर्पण रूप है -- भक्ति मे भक्त अपना सब कुछ प्रभु चरणो मे समर्पण कर क्षण भर मे ही उनका हो जाता है, उनके अप्रतिम ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है –

क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
सन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।[92]

अर्थात् भक्तगण, मनस्वी लोग अपने कृत्यो को प्रभु को समर्पित कर क्षणभरमे उनके अभय पद को प्राप्त कर लेते है। जिस किसी ने भी प्रभु के चरण का आश्रय लिया, बस सम्पूर्ण भय से मुक्त होकर अभय बन गया। ससार के परम शरण्य का आश्रय लेकर बन्ध्य भी भुवनपावन बन जाता है, पापी भी पुण्यात्मा हो जाता है–

निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपु प्रथितावदानम्।[93]
वन्ध्योऽस्मि चेद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि।।

भगवान दीनो के, दरिद्रो के परम रक्षक है। जिनका कोई नहीं है उनका भगवान् ही है। श्री अमितगति सर्वात्मना उस विश्वस्वरूप शुद्ध, अनन्त के चरणो मे सब कुछ समर्पित कर देते है–

शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये।[94]

जो सर्वात्मना प्रभु पाद मे समर्पित हो जाता है, उनकी शरणागति ग्रहण कर लेता है, वह सारे ऋणो से मुक्त हो जाता है –

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां[95]
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

हे राजन् जो मनुष्य सारे करणीयो को छोडकर सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल, प्रेम के वरदानी भगवान् मुकुन्द की शरणागति मे आ गया है, वह देवताओ, ऋषियो पितरो, प्राणियो और अतिथियो के ऋण से मुक्त हो जाता है तथा वह किसी के अधीन, किसी का सेवक, किसी के बन्धन मे नहीं रहता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

15.3. भक्ति सामर्थ्य प्रदात्री शक्ति है -- भक्ति महान् ऐश्वर्य प्रदात्री है। मृत्यु के घोर गह्वर मे फसा जीव भी भक्ति की शक्ति से समर्थ हो जाता है – शक्तिहीन भी बलबान् बन जाता है।

मानतुङ्ग विवश था, असहाय था, किकर्त्तव्य विमूढ था लेकिन प्रभु का हृदय मे अवतरण होते ही, उनकी भक्ति के जागृत होते ही मानतुङ्ग समर्थ बन जाता है, बलवान् हो जाता है – अपनी महतीयात्रा मे प्रवृत्त हो जाता है –

कर्तु स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।[96]
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।[97]

मृत्यु पाश मे फसा हुआ गजेन्द्र भक्ति की शक्ति से उस पार चला जाता है, जिसे प्राप्त करने के लिए योगिजन भी लालायित रहते है। भक्ति की शक्ति से ही पाण्डव बार-बार विपत्तियो से बचते है। कुन्ती कहती है –

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंशेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।[98]
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो,
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्।।
विषान्महाग्नेः पुरूषाददर्शना-
दसत्यभायाः वनवासकृच्छ्रतः।
मृधेमृधेऽनेक महारथास्त्रातो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः।।

अर्थात् हृषिकेश! जैसे आपने दुष्ट कंश के द्वारा कैद की हुई और चिरकाल से शोकग्रस्त देवकी की रक्षा की थी वैसे ही पुत्रो के साथ विपत्तियो से मेरी बार-बार रक्षा की। आपही हमारे स्वामी है। कहां तक गिनाऊ – विष से, लाक्षागृह की भयानक आग से हिडिम्ब आदि राक्षसो की दृष्टि से, दुष्टो की द्यूत सभा से, वनवास की विपत्तियों से और अनेक बार के युद्धो में महारथियो के शस्त्रास्त्रो से और अभी-अभी अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से भी हमारी रक्षा की है।

भक्तिरसामृत सिन्धुकार ने भक्ति के छ गुणो का निर्देश किया है

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्ल्लभा।[99]
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा।।

अर्थात् वह भक्ति 1 क्लेशो को नाश करने वाली, 2 कल्याण प्रदान करनेवाली, 3 अपने आनन्द के सामने मोक्ष को भी तुच्छ बना देने वाली, 4 अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने वाली, 5 अपरिमेयआनन्द विशेष से परिपूर्ण और 6 भगवान् को आकृष्ट करने वाली है।

15.4. क्लेशघ्नी -- जो आत्मा को क्लेशितकरे, दु खी करे वह क्लेश है। उसके तीन रूप है -- पाप, पाप का बीज और अविद्या। इनके भी दो रूप होते है– अप्रारब्ध (सचित) एव प्रारब्ध (*जिसका भोग प्रारभ* हुआ है) भक्ति इन सारे पापो का विनाश कर देती है –

यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्[100]
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः।।

अर्थात् हे उद्धव! मेरी भक्ति प्रज्ज्वलित अग्नि के समान है जो इन्धन रूपी अपार पापराशि को शीघ्र ही भस्म कर देती है। जैनाचार्य वादिराजसूरि ने लिखा है–

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे[101]
र्या देव! त्वत्पदकमलयोः संगता भक्ति गंगा।
चेतस्तस्यां ममरुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः
कल्माषं यद्भवति किमियं देव! संदेहभूमिः।।

अर्थात् हे भगवान्! आपके चरणकमलो की सगति को प्राप्त हुई भक्ति-गङ्गा मे जो स्नान कर लेता है उसके चित्त के समूचे पाप धूल जाते है। पापविनाशकत्व स्वरूप की ओर भक्तामरकार ने भी निर्देश दिया है–

त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।[102]
पापं क्षयात्क्षणमुपैति शरीरभाजाम्।।

भक्ति से अविद्या का विनाश हो जाता है–

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेवपन्नगीम्।।[103]

15.5. **शुभदा** -- समस्त प्राणियो को सन्तुष्ट करना, जगत् के समस्त प्राणियो का अनुराग प्राप्त करना, दयादाक्षिण्यादि सद्गुण एव सुख आदि को विद्वानो ने शुभ कहा है।[104] भक्ति से इन सारे शुभो की प्राप्ति होती है। भक्त भक्ति के द्वारा भगवान् को तृप्त तो करता ही सम्पूर्ण जगत् के प्राणियो को भी संतुष्ट करता है, प्रसन्न करता है –

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।[105]
रज्यन्तिजन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि।।

अर्थात् जिसने भगवान् को अपनी अर्चना द्वारा सतुष्ट कर लिया, समझ लो कि उसने सारे जगत् के प्राणियो को प्राप्त कर लिया। उसके प्रति जगत् के समस्त प्राणी और स्थावर भी अनुरक्त हो जाते है। वह सर्वपूज्य हो जाता है, सर्वसमर्थ हो जाता है–

ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर नाथमेकं[106]
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।

15.6 **सुखदा** -- भक्ति सुख देने वाली है। सुख आह्लादरूप होता है – सुखमाह्लादनाकारम्[107]। सभी बाधाओ का दूर होना सुख है – सुह सयलबाहाविरहलक्खणं[108]। सुख तीन तरह के होते हैं– 1 वैषयिक, 2 आत्मा, 3 ऐश्वर्यसुख। प्रभु भक्ति से तीनो सुख यथाशीघ्र प्राप्त हो जाते है। तन्त्र का प्रमाण है, शिवजी पार्वती से कह रहे है –

सिद्धयः परमाश्चर्य्या भुक्तिः मुक्तिश्च शाश्वती।[109]
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्द भक्तितः।।

अर्थात् परमाश्चर्यजनक अणिमादि रूप सिद्धि, भुक्ति (वैषयिक सुख) एवं मुक्ति (ब्रह्मसुख) और नित्य परमानन्द भगवान् की भक्ति से प्राप्त होते है। प्रभु जिनेश्वर की चरण-वन्दना से अचिन्त्य ऐश्वर्य एव उपमारहित नित्य सुख की प्राप्ति होती है–

अव्याबाधमचिन्त्यासारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतम्।[110]
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव सम्प्राप्यते।।

(हे प्रभो! आपके चरणारविन्द युगल की स्तुति से अव्याबाध, अचिन्त्य, सारस्वरूप, अतुल, अनुपमेय, शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।)

मुनि शोभन (10 वीं शाताब्दी ई० सन्) ने लिखा है कि शान्ति जिनेन्द्र के प्रवचनो को सुनने मात्र से ही यह जीव शाश्वत शान्ति एवं अव्याबाध सुख प्राप्त कर लेता है।

शान्तिं शान्तिजिनेन्द्र शान्तमनसस्त्वपादपद्माश्रयात्[111]

सम्प्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः।।

अर्थात् हे शान्ति जिनेन्द्र इस धरती पर बहुत से शान्ति (सुख) के इच्छुक जीव शान्त मन वाले आप प्रभु के चरणकमलो को आश्रय कर शान्ति को प्राप्त कर लिए है, अव्याबाध सुख मे लीन हो गए। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव मे प्रभु भक्ति–पचपरमेष्ठी भक्ति से नित्य परमानन्द सुख की ओर निर्देश किया है।

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं[112]
ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्तिवाग्भिः परम्।

तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुनः।
ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः।।

जो वाणी से परे भगवान् परमेष्ठियो के अनन्त लीला का साक्षात् अनुभव करने वाले प्राणी नित्यपरमानन्द रूप सुखराशि को प्राप्त कर लेते है, वे धन्य है, दुर्लभ है।

15.7 **मोक्षलघुताकृत्** -- भक्ति मोक्ष से भी श्रेष्ठ है। भगवद्भक्त भक्तिरूपरसामृत का पानकर मोक्ष का भी तिरस्कार करते है। भक्त कहता है–

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।[113]
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे।।

हे सर्वसौभाग्यनिधे! मै आपको छोडकर ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकछत्र राज्य, योग की सिद्धिया–यहा तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। नारदपाञ्चरात्र की उक्ति है–

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वमुक्त्यादिसिद्धयः[114]
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः।।

अर्थात् मुक्ति आदि सारी सिद्धियां और नाना प्रकार की अद्भूत भुक्तिया (संसारिक भाग) दासियों के समान उस भगवद्भक्ति रूप महारानी के पीछे-पीछे चलती है।

इस प्रकार भक्ति भवरोगहन्त्री, सामर्थ्यदात्री, शुभदा, सुखदा आदि गुणों से परिपूर्ण है।

****

संदर्भ सूची

1 'राधा' शब्द विश्ववाराशक्ति का नाम है, आत्मा का प्रकाश है या जागत् मे आराधना रूपा है। राध—ससिद्धौ धातु से निष्पन्न है।

2 भक्तामरस्तोत्र – 12

3 भागवतपुराण 10 29 40

4 तत्रैव 1 9 33

5. सस्कृतधातुकोष पृ० 83

6 पाणिनि अष्टाध्यायी – 3 3 94

7 गरुड पुराण

8 सस्कृत धातुकोष -- पृ० 84

9 श्रीभद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन पृ० 134

10 भागवत पुराण 1 5 28

11 तत्रैव 1 7 7

12 नारदभक्तिसूत्र – गीताप्रेसगोरखपुर – सूत्रसख्या – 18

13 आत्मपुराण 29 44

14 सस्कृत धातुकोष पृ० 84

15 शाडिल्यभक्तिसूत्र 1 1 2

16 नारदभक्तिसूत्र 16

17 तत्रैव 17

18 तत्रैव 18

19 तत्रैव 19

20 तत्रैव 2-3

21. तत्रैव 8

22. भागवतपुराण 3.29 11
23. तत्रैव 1.2 6-7
24 तत्रैव 11.2 42
25. विवेकचूडामणि 33
26 श्रीमद्भगवद्भक्ति रसायण – 3
27. तत्रैव – 33-36
28. भक्तिरसामृतसिन्धु 1 1 11
29 भारतीय दर्शन परिभाषाकोश पृ० 185
30 तत्रैव पृ० 185
31 अभिधान राजेन्द्र कोश पांचवा भाग पृ० – 1365
32 निशीथचूर्णि, जिनदासगणि विजय प्रेमसूरीश्वर सम्पादित–130
33 नियमसार-मू. गाथा – 135
34 नियमसार गाथा – 134 पर तात्पर्यवृत्ति
35 समयसार तात्पर्यवृत्ति – 173-176/243/11
36 सर्वार्थ सिद्धि 6 24 339 4
37 भगवती आराधना, विजयोदया टीका 47 159 20
38 धवला 8 3, 41, 89, 5
39 आवश्यकटीका
40 भक्तामर रहस्य, भूमिका मे उधृत
41 उपसर्गहर स्तोत्र
42 भागवतपुराण 3 9 6
43 तत्रैव 8 3 1
44 भक्ति रसामृत सिंधु 1 1 11
45 सस्कृत धातुकोष पृ० 113
46 सस्कृत-हिन्दीकोश (आप्टे) पृ० 1125

47 भागवतपुरण 4 22 39-40

48 चेइयवदणमहाभास, श्रीशान्तिसूरि, जैन आत्मानन्दसभा भावनगर, वि स 1977 गाथा–736 पृ० 132

49 अष्टपाहुड, कुन्दकुन्दाचार्य गाथा – 105

50 भगवती आराधना – 22

51 उत्तराध्ययन सूत्र – 29 44

52 सस्कृत धातुकोश पृ० – 98

53 सस्कृत धातुकोश पृ० – 41

54 विशेषावश्यक भाष्य – 3468

55 दशवैकालिक सूत्र – 9 2 2

56 सस्कृत धातु कोश पृ० – 99

57 वाचस्पत्यम् खण्ड – 6, पृ० 5149 पर उधृत

58 अश्रुवीणा – 4, 5

59 गीता – 4 39

60 भागवतपुराण – 3 25 25

61 सस्कृत धातुकोष पृ० 96

62. सस्कृत हिन्दी कोश पृ० 1045

63 जीतकल्यभाष्य 1107

64 धवला 7/2/1/3/7/3

65 पातञ्जलयोसूत्र – 3 4

66 नारदभक्ति सूत्र – 7

67 भागवतपुराण – 10 29 31

68 नारदभक्ति सूत्र 35

69 भागवतपुराण 10 47 24

70 तत्रैव 12 12 45

71. भक्तामर स्तोत्र 41
72. संस्कृत धातु कोष स्तोत्र पृ० 68
73 संस्कृत हिन्दी कोश पृ० 502
74. भागवपुराण 10 29.31
75 संस्कृत हिन्दीकोश पृ० 88
76 संस्कृत हिन्दीकोश पृ० 759
77 तिलोयपण्णत्ति 1.8
78. तत्रैव 1 9. 15
79. सूत्रकृतांग चूर्णि – 1. पृ० 2
80 तत्रैव चूर्णि – 1. पृ० 2
81. भागवतपुराण 2 4 15
82 तत्रैव 12 12 49
83 सस्कृत धातुकोष पृ० 95
84. राजवार्तिक 1 1 37, 10 15
85 तत्त्वार्थसूत्र – 10 2
86 भागवतपुराण 3 25 33
87 विवेक चूडामणि 33
88 भक्तामर स्तोत्र 51-52
89 भक्तामर स्तोत्र – 40
90 कल्याणमन्दिर स्तोत्र 7
91 तत्रैव – 13
92 भागवतपुराण 5 20 23
93 कल्याणमन्दिरस्तोत्र 40
94 सामायिकपाठ, आचार्यअमितगति (ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद सम्पादित धर्मपुरा देहली वि स 197) श्लोक–20

95 भागवतपुरण 11 5 41

96 भक्तामर स्तोत्र 5

97 तत्रैव 6

98 भागवतपुराण 1 8 23 24

99 भागवतपुराण 1 1 13

100 भागवतपुराण 11 14 19

101 एकीभाव स्तोत्र, वादिराज सूरिकृत (पचस्तोत्रसंग्रह, सूरत) श्लोक–16

102 भक्तामर स्तोत्र 9. 7

103 भक्तिरसामृतसिन्धु पृ०16 पर उघृत (डॉ० नगेन्द्र सम्पादित दिल्ली विश्वशविद्यालय से प्रकाशित 1963)

104 तत्रैव 1 1 16

105 तत्रैव पृ० 17 पर उधृत

106 भक्तामरस्तोत्र 14

107 जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, खण्ड–4. पृ० 429

108 तत्रैव पृ० 430

109 भक्तिरसामृत सिन्धु पृ० 17 पर उधृत

110 शान्तिभक्ति आचार्य पूज्यपाद, श्लोक-6 (दशभक्ति, शोलापुर सन् 1921 ई०)

111 तत्रैव श्लोक–8

112 ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचन्द्र – श्लोक 29 (श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल बम्बई)

113 भागवतपुराण 6-11-25

114 भक्तिरसामृत सिन्धु पृ० 18 पर उधृत

****

भक्तामर स्तोत्र में प्रयुक्त भगवन्नामों का विवेचन

नाम

1. उपोद्घात -- भक्त जब समाहित चेता बन जाता है, राग-द्वेष के सगम पर चोट खाकर किसी समर्थ के अन्वेषण मे चल पडता है, तब उसके अन्तर्मानस से वैसे शब्दो की लडिया निकलने लगती है, जो उसके स्वामी को, प्रभु को सकेतित अथवा अभिहित तो करती ही है साथ मे स्वामी के किसी विशिष्ट रूप का उद्घाटन भी कर जाती है, उन्हीं को नाम कहते है, जो भक्तिशास्त्र की, स्तोत्र-वाडमय की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा है, जिसके उद्गायन से भक्त महान् विभूति किवा सम्भूति की प्राप्ति सद्य कर लेता है।

2. नाम शब्द-स्वरूप संधारण -- नाम शब्द भ्वादिगणीय म्ना–अभ्यासे धातु से मनिन् प्रत्यय के योग के साथ, 'नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन्[1]' इस औणादिक सूत्र से निपातन से सिद्ध होता है। 'म्नायते ऽनेन इति नाम[2]' अर्थात् जिसके द्वारा अभिहित किया जाय वह नाम है। म्नायते अभ्यस्यते नम्यते अभिधीयतेऽर्थोऽनेन वा[3]' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ का सधारण किया जाता है, अभिहित किया जाता है वह नाम है, जो सज्ञा, आख्या आह्ना, अभिधान, नामधेय, आह्वान, लक्षण, व्यपदेश, आह्वय, गोत्र, अभिख्या, लिंग आदि अर्थो का वाचक है।[4]

आचार्य यास्क ने पद के चार विभागो[5] मे से नाम को एक माना है। जिसमे सत्त्व (द्रव्य तत्त्व) की प्रधानता हो उसे नाम कहते है -- 'सत्त्वप्रधानानि नामानि'[6]। जिसके द्वारा अभिधान किया जाता है, वह नाम है -- तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वम्[7] अर्थात् जिससे ...

(द्रव्य) का अभिधान किया जाता है, सकेत किया जाता है वह नाम है। 'नाम सत्त्वाख्यमुच्यते'[8] अर्थात् नाम सत्त्ववाचक होता है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य के एक श्लोक मे नाम को सत्त्वाभिधायक कहा गया है—— 'सत्त्वाभिधायक नाम'[9]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे नाम को सत्त्वाभिधायि कहा है-- 'तत्र नाम सत्त्वाभिधायि'[10]। बृहद्देवता मे नाम को परिभाषित किया गया है --

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।[11]
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः।।

अर्थात् जिस शब्दोच्चारण मात्र से द्रव्य की प्रतीति होती है, उस अक्षर सस्थान से युक्त शब्द को मनीषि लोग नाम कहते है। जैमिनी ने नाम की परिभाषा इस प्रकार दी है --

एषामुत्पत्तौ स्वप्रयोगे स्वरूपलब्धिस्तानि नामानि[12]' अर्थात् नाम वह है जिसकी उत्पत्ति होने पर उसके प्रयोग मे स्वरूप की उपलब्धि होती है। आचार्य भर्तृहरि ने भी नाम को सत्त्वप्रधान माना है – नाम्ना सत्त्वप्रधानता।[13]

जैन वाड्मय मे 'नाम' की अनेक परिभाषाए मिलती है। राजवार्तिक मे लिखा है कि -- नीयते गम्यतेऽनेनार्थ नमत वार्थमभिमुखी करोतीति नाम'[14] अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ जाना जाए अथवा अर्थ को अभिमुख करे, वह नाम कहलाता है। धवलाकार ने लिखा है -- नाना मिनोनीति नाम'[15] अर्थात् नाना रूप से जो जानता है उसे नाम कहते है। नागसेन सूरि ने वाच्य के वाचक को नाम कहा है -- वाच्यवाचक नाम'।[16] उत्तराध्ययन चूर्णि मे निर्दिष्ट है कि जिससे परिचय प्राप्त होता है, जाना जाता है वह नाम है-- नयति नीयते वा नाम।[17]

इस प्रकार सज्ञा, सकेत, आख्या आदि को नाम कहा जाता सकता है। वस्तु के सार का आक्षरिक कथन, आक्षरिक सज्ञान,

वर्णिक सकेत नाम है, जिसमे अभिधेय अर्थ की अभिव्यक्ति का पूर्ण सामर्थ्य होता है, तथा जो सत्त्वाभिधायक होता है।

3. नाम और स्तोत्र -- प्रभु, ईश्वर, जिनेन्द्र, गुरु, पूज्य या समर्थ के सार्थक अभिधानो या नामो का सकीर्तन स्तोत्र है। अर्थात् स्तोत्र की आधारभिति नाम है। इसलिए लगभग सभी स्तोत्रो मे नाम की प्रधानता रहती है, क्योकि नाम प्रभु के विभिन्न गुणो के उद्घाटक तो होते ही है, स्तोता मे अपरिमेय सामर्थ्य भी भर देते है, या तत्सदृश होने की योग्यता की उत्पत्ति कर देते है।

4. नाम और भक्ति -- भक्ति मे नाम कीर्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका विशद विवेचन 'जैन भक्ति और भक्तामर' मे विन्यस्त है।

5. नामोच्चारण और स्तोता की मनोदशा -- स्तोत्र साहित्य का मूल आधार है प्रभु के, जिनेन्द्र देव के विभिन्न नामो का सकीर्तन। वे नाम स्तोता या भक्त के विभिन्न मनोदशा के अभिव्यजक होते है।

नामोच्चारण कर्ता किस अवस्था मे है, उसके मानसिक–धरातल पर कौन सी कामना का बीज अकुरित है? क्या वह भौतिक भोगो की प्राप्ति की लालसा से प्रभु की ओर चला है? अथवा अमरता की लब्धि के लिए। कामना कैसी भी क्यों न हो यदि प्रभुचरण की ओर भक्त का, दास का, सेवक का, जीव का प्रस्थान हो जाता है तो समझना चाहिए कि उसका जन्मजन्मान्तरीय उत्कृष्ट कर्मो का फलोदय अथवा पुण्योदय हो चुका है।

भक्त जब सांसारिक क्षणभंगुरता, विनश्वरता से उद्वेगित हो जाता है। विश्व का, जगत् का, स्वार्थ का भयंकर ताडव देखकर, विनाशलीला देखकर, सामने मृत्यु को प्राप्त कर जब वह घबरा जाता है, तब प्रभु के वैसे नामो का उच्चारण करता है जो स्थायित्व, चिरस्थायित्व, शाश्वत धर्मिता के अभिव्यंजक होते हैं,

क्योकि उस भक्त को वही स्थिति काम्य है जो कभी समाप्त न हो, कभी कष्ट पाश की ओर न ले जाए, मृत्यु के कराल गाल से बचा सके। गीता का अर्जुन महाभारत युद्ध की भावी विभीषिका या प्रभु द्वारा प्रदर्शित संसार की क्षणभगुरता को देखकर, विनाश लीला का अवलोकन कर इतना घबराता है कि वह उस पद की कामना करने लगता है, जो इस उत्पन्न भयंकर स्थिति से बचा सके, त्राण दे सके, रक्षा कर सके, स्थैर्य, प्रसाद, मर्यादा के अमर निकेतन मे अधि ष्ठापित कर सके। अर्जुन कहता है

त्वामादिदेवः पुरुषः पुराणः
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।[18]

द्रौपदी जब कालचक्र मे, छलियो के प्रपच मे, छद्मियो के महाजाल मे फंसती है, तब वह वैसे ही नामो का उच्चारण करती है, जिसमे इस जाल से बचा सकने का अक्षोभ्य शक्ति निहित है--

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय।[19]
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।।
हे नाथ हे रमानाथ ब्रजनाथार्तिनाशन।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।।

तीन श्लोको का यह स्तोत्र भक्त की तीन मनोदशा का बिम्ब पाठक ससार को प्रस्तुत करता है --

I. **द्रौपदी का कृष्ण के साथ निकट का, पारिवारिक सम्बन्ध है। भैया हैं** --- इसलिए वह द्वारिकावासी को याद कर रही है, द्वारिका के राजा अपने भैया कृष्ण को पुकार रही है। ऐसा नहीं कि उसका कृष्ण द्वारिका का राजा होने से मृत्युधर्मा है, असमर्थ है, वल्कि वह सर्व समर्थ है। द्रौपदी को भी अपने भैया के सामर्थ्य का पूर्ण

ज्ञान है तभी तो वह अपने स्तौत्रीय यात्रा 'गोविन्द' पद से प्रारम्भ कर गोविन्द में ही समाप्त करती है। इन्द्रियो का शासक, विश्व का अधिराज, जगत् का स्वामी ही तो गोविन्द है – 'गा वेदमयीं वाणी गा भुवं धेनु, स्वर्ग वा विन्दति' अर्थात् जो वेदमयी वाणी, धरती, धेनु, स्वर्ग अर्थात् सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त रहता है, सम्पूर्ण विश्व का शासन करता है वही गोविन्द है। वह अवश्य मेरी रक्षा करेगा।

II. **दूसरी अवस्था है** -- द्रौपदी पीडित है, आर्त है, दु ख से, दुष्टो के सत्रास से, प्रवचना से, इसलिए उसे वैसे व्यक्ति, प्रभु की आवश्कता है, जो उसे बचा सके, उसका स्वामी बन सके। नाथ, रमानाथ, व्रजनाथ, आर्तिनाशन ये शब्द द्रौपदी की दैन्यदशा का उद्‌घाटन करते है।

III. **तीसरी अवस्था है** -- सम्पूर्ण समर्पण का। किसके पास अपना सब कुछ न्योछावर करे। उसी के पास जो महायोगी होगा, विश्वात्मा होगा, विश्वभावन होगा। मानतुङ्ग उसी के पास न्योछावर हुआ जो सचमुच समर्थ है, जो एक मात्र 'आलम्बन भवजले पतता जनानाम्' है।

प्रस्तुत संदर्भ मे इसी महाभक्त मानतुग की मानसिक दशा विचार्य है।

5.I. दिङ्मूढता की स्थिति – जब अचानक, अनायास, अनपेक्षित सकट से व्यक्ति घीर जाता है, मृत्यु सकट मे फस जाता है, तब रहता है उसके आखो के सामने अधकार, दु ख का उफनता सागर, वेदना की चिलचिलाती ताप तरगे, मृत्यु का अथाह समुद्र और स्वय असहाय ओर असमर्थ, मृत्यु के पाश मे, जाल मे फसा हुआ। बस उसकी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है— उसकी खोज मे जो प्रकाशक हो, जो

उसके सामने विद्यमान अनन्त पापतम के वितान का विच्छर्दन कर सके। उसकी वैखरी वाक् वैसे ही प्रभु नामो को पकडती है, जिसमें उसके कार्य योग्य सामर्थ्य अनुस्युत- है। भक्तामर–स्तोत्र के प्रथम श्लोक मे जिनेश्वर पादयुगल के लिए प्रयुक्त तीन विशेषणों– 'भक्तामर प्रणत मौलिमणिप्रभाणामुद्योतकम्, दलितपापतमो वितानम्, भवजलेपतताजनानामालम्बनम्' आदि के द्वारा यह तथ्य प्रकट हो जाता है। ये तीनो विशेषण परिस्थतिजन्य है, मानतुग के मुख से नि सृत है।

सामर्थ्यवान् की शरणागति मिली क्या कि भक्त की मानसिक वृत्तियां – जो पूर्व मे चचल पड गयी थी, स्थिर हो जाती है। धीरे–धीरे मर्यादा की ओर बढने लगती है, तब भक्त लालायित होता है – अपने अन्दर विद्यमान कालुष्य के प्रक्षालन के लिए, कषाय विजय के लिए। इसीलिए तत्सामर्थ्यसंबलित नाम – जिनेन्द्र का शरण ग्रहण करता है[20]। रागद्वेष विजेता जिन होते है और उन जिनो के स्वामी जिनेन्द्र है, वे ही जिनेन्द्र मेरे अन्दर (भक्त के अन्दर) विद्यमान रागादि कालुष्य का निवारण कर सकते है।

5.II. **द्वितीय अवस्था है** – जब कालुष्य का विनाश होता है, अहकार का तिरोहण होता है, तब भक्त स्वय हस्व हो जाता है -- और उसके सामने होते है -- अनन्त ऐश्वर्य विभूति के खनि प्रभु जिनेश्वर, गुणो के अथाह सागर भगवान् – तव उसकी ससारिणी वाणी वस एक ही शव्द का उच्चारण कर पाती है -- हे गुणसमुद्र[21]।

5.III. तृतीय अवस्था है – जब गुण समुद सामने होते हैं तब भक्त को जन्म जन्मान्तर से प्रतीक्षित समय हाथ लग जाता है – अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना को, कष्ट को, हस्वता को, अपनी कमियों को प्रभु के सामने एक–एक निवेदित करने लगता है – हे प्रभो! मैं कितना क्षुद्र हू, नीच हू – इस तथ्य को आपसे अधिक कौन जान सकता है –

कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम।

वाह रे! भक्त और भगवान् का सम्बन्ध। अरे! आप प्रभु के गुणों का गायन तो बृहस्पति भी नहीं कर सकते हैं, हमारी क्या शक्ति? लेकिन जिसका पार बड़े–बड़े ज्ञानी भी नहीं पा सकते, जिसका दर्शन ध्यान-योगियों की जन्मकुण्डली में भी उदिष्ट नहीं है भक्त को उसका दर्शन कौन कहे वह सदेह उसी का हो जाता है –

क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः

सन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।।

मानतुङ्ग अपनी हीनता और प्रभु–सामर्थ्य के परिज्ञान के साथ भक्ति की भूमिका में, प्रभु प्रेम में आनन्द के मधुमय निकेतन में सहजतया प्रवेश कर जाता है।

सोऽहं तथापि तव भक्ति वशान्मुनीश!,
कर्तुं स्तवं विगत शक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थं

5.IV. **चौथी अवस्था है** -- जब भक्त पूर्णतया रिक्त हो जाता है, अहकार का सर्वथा निरसन हो जाता है, तब उसका अन्तर्मन पवित्र हो जाता है। उस समय उसके सामने स्वय उसका प्रभु होता है, जो ससार के समस्त गुणो का एकमात्र प्रतिमान होता है, विश्व का विभूषण होता है। वह अपनी रूप, गुण, ऐश्वर्य विभूति, महनीयता और महान् अतिशयो से धरती का रजन अथवा सम्पूर्ण जीवजाति का अनुरजन करने लगता है। जब भक्त की सम्पूर्ण मनोवृत्तिया, चेतना उसी स्वामी के आभामण्डल मे, चरणनख ज्योति मे स्थापित हो जाती है। मन थम जाता है, इन्द्रिया विरमित हो जाती है। तब कहीं उसकी वाणी उस सत्य के सगायन से विलसित होने लगती है, जो 'भूवनभूषण' है भूवननाथ है।

5.V. **पांचवी अवस्था है** -- भक्त की इन्द्रियॉ जैसे-जैसे थमती जाती है, मन आत्मप्रदेश की ओर गमन प्रवृत होने लगता है, वैसे-वैसे भक्त मे किसी अचिन्त्य का स्वरूप प्रकट होने लगता है। वह प्रिय कभी चिन्त्य था, उसे भक्त मन ने नही पकड सका, इसलिए भक्त की आत्मा मे, हृत्प्रेदश मे वह प्रभु अचिन्त्य, अव्यय, असख्य, अनन्त बनकर प्रकट होता है। इन्द्रिया किसी सीमा तक ही व्यापार करती है। जब इन्द्रियो की सीमा समाप्त हो जाती है, असीम का कार्य प्रारम्भ होता है, तव वह स्वामी असख्य, अनन्त, आद्य के रूप मे अभिव्यक्त होता है।

5.VI. **भक्त अपनी भक्ति की शक्ति के वल पर अमर** -- विभूति की सभूति को हस्तगत कर लेता है। परन्तु

यही पर ज्ञानी और भक्त मे अन्तर होता है। ज्ञानी केवल आत्मकल्याण से वासित है लेकिन भक्त विश्वमगल की मागलिक सुगन्धी से सम्पूर्ण जगत् को सुगन्धमय बना देता है। त्रिभुवन के समस्त जीवो के पाप-ताप के परिशमन के लिए उद्वेगित हो जाता है। राजा रन्ति देव के सामने प्रभु संसार की सम्पूर्ण विभूतियो को देने के लिए तैयार खडे है, लेकिन भक्त की याचना भी गजब होती है। बाह रे भक्ति का ससार। भक्त आत्मकल्याण को भूलकर विश्वमगल की ओर प्रयाण कर जाता है। जगत् के समस्त दु खो को अपने हिस्से में रखकर ससार को सुखमय एव आनन्दमय देखना चाहता है

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजा
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।।

अर्थात् हे भगवान्! मैं अष्टसिद्धियुक्त सद्गति नहीं चाहता, मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं केवल चाहता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूं, जिससे और किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

भक्तामर कवि मानतुंग इसी भावना से भावित होते है। न जाने उनके [illegible] संसार के [illegible] गहर मे फसकर [illegible] ऐसे गुणों का [illegible] करता है [illegible]

का अभिधान करता है, जो अखिल जीव जाति को दुख मुक्ति दिला सके। सम्पूर्ण प्राणियो को पाप-ताप से विनाशन दिला सके। इस अवस्था मे भक्त मानतुंग त्रिभुवनार्तिहार, नाथ आदि विशेषणो का प्रयोग करता है:–

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ,
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमः स्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय।।[27]

इस प्रकार भक्त प्रथमतया दिङ्मूढ, असहाय, अहंकार रहित होकर प्रभु के साथ सायुज्य के बाद अनन्त वैभव से विभूषित हो जाता है।

6. भगवन्नामों का वर्गीकरण -- भक्तामर स्तोत्र मे प्रयुक्त भगवन्नामो अथवा विशेषणो को निम्नलिखित रूप मे वर्गीकृत कर सकते है:--

6.1. विभक्ति के आधार पर -- विभक्ति के आधार पर भगवन्नामो को चार भागों मे विभाजित कर सकते है--

6.1.(i) **प्रथमान्त नाम** -- इस संवर्ग मे वैसे नामो को रखा गया है जिसका प्रयोग प्रथमा विभक्ति मे हुआ है। यथा–बुद्धः, शंकर, धाता, पुरुषोत्तम (25)।

6.1.(ii) **द्वितीयान्त अभिधान** -- इस वर्ग मे वैसे नामो का सग्रहण किया गया है जो द्वितीय विभक्ति मे प्रयुक्त है या द्वितीयान्त है। स्तोत्र मे द्वितीय-विभक्ति में अधिकांश नामो का प्रयोग हुआ है। यथा – परमपुमांसम्, अचिन्त्यम्,

असख्यम्, आद्यम्, ब्रह्माणम्, ईश्वरम्, अनन्तम्, अनगकेतुम्, योगीश्वरम्, विदितयोगम्, अनेकम्, एकम्, ज्ञानस्वरूपम् (24)।

6.1.(iii) **चतुर्थ्यन्त अभिधान** -- इस सवर्ग मे चतुर्थी विभक्ति मे प्रयुक्त नामो को रखा गया है। यथा—आर्तिहराय, क्षितितलामलभूषणाय, परमेश्वराय, भवोदधिशोषणाय (26)।

6.1.(iv) **संबोधन में प्रयुक्त अभिधान** -- इस वर्ग मे उन अभिधानो अथवा नामो को रखा गया जिनका प्रयोग सम्बोधन मे हुआ है। यथा नाथ (8. 16. 21, 26) मुनीश (5. 27) मुनीन्द्र (17) गुणसमुद्र (4) भुवनभूषण (10) आदि।

6.2 **मात्रा के आधार पर** -- यह विभाजन नामो मे विद्यमान मात्राओ के आधार पर किया गया है। एक मात्रा को लघु तथा दो मात्रा को गुरु कहते है। अनुस्वारयुक्त, दीर्घ, विसर्गयुक्त, संयोग के पूर्व वाला वर्ण गुरु होता है और कभी—कभी पदान्त ह्रस्व (लघु) को भी छन्द—पादपूर्ति की दृष्टि से गुरु मान लिया जाता है। इस सदर्भ मे नामो का निम्नलिखित रूप मे वर्गीकरण किया गया है—

6.2(i) **द्वयमात्रिक नाम** -- इस सवर्ग मे दो मात्राओ वाले नामो को रखा गया है। द्विमात्रिक नामो का प्रयोग अत्यल्प मात्रा मे हुआ है। यथा-जिन (26)।

6.2.(ii) **त्रिमात्रिक नाम** -- इस सवर्ग मे तीन मात्राओ वाले नामो को रखा गया है। यथा नाथ (8), धीर (25) विभूम् (24) विभो (24)।

6.2.(iii) **चतुर्मात्रिक नाम** -- इस संवर्ग में चार मात्राओ से युक्त नामों का विन्यास किया गया है – अमलम् (24), एकम् (24), बुद्ध:, धाता (5), भगवन् (25) आदि।

6.2.(iv) **पंचमात्रिक नाम** -- जो पांच मात्राओ मे न्यस्त है उन नामो को इस संवर्ग मे रखा गया है – अव्ययम्, अचिन्त्यम्, अनन्तम्, असंख्यम्, बह्माणम्, ईश्वरम्, अनेकम् (24), शकर· (25)।

6.2.(v) **षण्मात्रिक नाम** -- गुणसमुद्र (4)।

6.2.(vi) **सप्तमात्रिक .नाम** -- भुवनभूषण (10), त्रिजगदीश्वर (14), जगत्प्रकाश (16), योगीश्वरम् (7), विदितयोगम् (7), पुरुषोत्तम (7)।

6.2.(vii) **अष्टमात्रिक नाम** – अनंगकेतुम् (24), परमेश्वराय (26)।

6.2.(viii) **नवमात्रिक नाम** -- परमंपुमांसम् (23), आदित्यवर्णम्, तमस परस्तात् (9), ज्ञान स्वरूपम् (9), त्रिभुवनार्तिहराय (9)।

6.2.(ix) **एकादशमात्रिक नाम** -- भवोदधिशोषणाय (26)।

6.2.(x) **द्वादशमात्रिक -- विबुधार्चितपादपीठ** (3)।

6.2.(xi) **त्रयोदशमात्रिक** -- क्षितितलामलभूषणाय (26),

6.3. **स्वरूप बोधकता के आधार पर** -- इस सवर्ग मे भगवान् के नाम उनके किस स्वरूप के उद्घाटक है, के आधार पर वर्गीकरण किया गया है।

6. 3.(i) **सर्वपूज्यत्व के प्रतिपादक** -- भक्तामर मे कतिपय वैसे नामो का प्रयोग हुआ है जो भक्तामर–प्रभु की सर्वपूज्यता, सर्वश्रेष्ठता आदि

को समुघाटित करते है। विबुधार्चितपादपीठ, त्रिजदीश्वर, पुरूषोत्तम, क्षितितलामलभूषणाय आदि नाम भगवान् की त्रैलोक्य प्रसिद्ध महनीयता को प्रतिपादित कर रहे है।

6.3.(ii) **अनन्तता एवं सर्वव्यापकता के निरूपक** --- कुछ वैसे ही अभिधान आए है जो भगवान् की अनन्तता एव सर्वव्यापकता के समुद्घाटक हैं-- अनन्तम्, असंख्यम्, विभुम्, अनेकम् आदि।

6.3.(iii) **प्रकाशरूपता के संघाटक** -- भगवान् प्रकाश स्वरूप है। उनका चेहरा देदीप्यमान तथा शरीर से चतुर्दिक कान्ति प्रस्फुटित है। जगत्प्रकाश (16), आदित्यवर्णम् (23), तमस परस्तात् (23) आदि नाम भगवान् के प्रकाश रूप को प्रतिपादित कर रहे है।

6.3.(iv) **संसार संतारक** -- भगवान् ससारार्णव मे फसे जीवो के समर्थ सतारक है। आलम्बन भवजले पतता जनानाम् (1) भवोदधिशोषणाय (26), आदि विशेषण इस तथ्य को उद्घाटित करते हैं।

6.3.(v) **दुःख विनाशक** – भगवान् ससारिक जीवो के, समस्त त्रैलोक्य के प्राणियो के दु खो के उच्छेदक है। 'त्रिभुवनार्तिहराय' यह पद भगवान् के इस स्वरूप का उद्घाटन करता हे।

6.3.(vi) **गुणागाधता के संधारक** -- कुछ ऐसे भी नामो का प्रयोग हुआ है जो भगवान् की अगाधता के ससूचक अथवा समुद्घाटक हे। गुण–समुद्र (4) परमेश्वर (26) आदि।

6.3.(vii) **ऐश्वर्यविभूति के समुद्घाटक** -- कुछ ऐसे नामो का विनियोजन हुआ है, जो भगवद्विभूतियो को प्रपंचित करने मे समर्थ है। भूतनाथ (10), नाथमेकम् (14), त्रिजगदीश्वर (14), ईश्वर (24), भगवन् (25), परमेश्वर (26)।

6.3.(viii) **अतीन्द्रियता** -- भगवान् अतीन्द्रिय है, इन्द्रियो के द्वारा उन्हे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अचिन्त्य, असंख्य, आद्य आदि विशेषण इस तथ्य को अभिव्यंजित करते हैं।

6.3.(ix) **ज्ञानस्वरूप** -- भगवन् केवल ज्ञानमय है। जगत्प्रकाश, तमस· परस्तात्, ज्ञानस्वरूपम्, अमलम् आदि विशेषणो के द्वारा यह तथ्य प्रकट हो रहा है।

6. 3. (x) **संयम प्रतिपादक** -- भगवान् सयम के मूर्त्तरूप थे। मुनीश, मुनीन्द्र आदि विशेषण भगवान् के संयम-श्रेष्ठता के संसूचक है।

6. 3. (xi) **विश्वमंगल के उपस्कारक** -- कुछ वैसे भी विशेषणो का उपयोग हुआ है जो भगवान् के मांगलिक रूप का उद्घाटन करते है। शंकर, बुद्ध आदि पद इसी रूप के अभिव्यजक है।

7. **नामविवेचन** -- प्रस्तुत संदर्भ मे अकारादि क्रम से नामो का विवेचन--प्रकृति, प्रत्यय, अर्थ एवं व्याख्यादि अवधेय है :--

7.1. **अचिन्त्यम्** -- नञ् (अ) पूर्वक चुरादिगणीय चिति (चिन्त्) स्मृत्याम्'[28] धातु से यत् प्रत्यय करने पर अचिन्त्य बनता है। यहा अचिन्त्य शब्द द्वितीया विभक्ति एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। जो सोचा भी न ...ा सके, समझ से

परे है वह अचिन्त्य है। जो अतर्कित है, इन्द्रिय अगोचर है वह अचिन्त्य है। टीकाकारों ने लिखा है – आध्यात्मिकैरपि न चिन्तितुं शक्यः (गु. वि.) अचिंत्यं अनाकलनीय स्वरूपं, लोकोत्तरलिङ्गधारित्वात्, परमयोगिभिरपि यथास्थितस्वरूपानवधारणात् (मेवृ.) अर्थात् जो लोकोत्तर है, परमयोगियो के द्वारा भी गम्य नहीं है इसलिए अचिन्त्य हैं। इस विशेषण पद से भगवान् की अलौकिकता गम्य है क्योकि लौकिक पदार्थ चिन्त्य होते हैं।

7.2. **अनंगकेतुम्**[29] – कामदेव का विनाशक, कामकषायों का शत्रु अथवा वैक्रिय औदारिक आदि कर्म चिन्हो से रहित (कर्ममुक्त) अनङ्गस्य कामस्य केतुरिव तम्। यथा केतुरुदितो जगत्क्षयं कुरुते तथा भगवान् कंदर्पस्य क्षये हेतु (गु.वि) अर्थात् जैसे केतु उदित होकर जगत् का विनाश करता है उसी प्रकार भगवान् काम के विनाशक है। काम राग-द्वेष, लोभ-मोह आदि का उपलक्षक है अर्थात् रागादि का विनाशक। कदर्पस्य नाशकत्वेन केतु तुल्यम् (मे वि)। न अङ्गानि वैक्रियौदारिकाहारकतैजस कार्मणान्येव केतुः चिन्हं यस्य तमनङ्गकेतुम् (गु.वि) अर्थात् जिसके वैक्रिय औदारिकादि कर्मरूप चिन्ह नहीं है, कर्मो का सर्वथा विनाश हो चुका है वह अनङ्गकेतु है। इस विशेषण के द्वारा भगवान् की कर्मरहितता लक्षित है।

7.3. **अनन्तम्**[30] – नञ् (अ) पूर्वक भ्वादिगणीय अम गतिशब्दसभक्तिषु एवं चुरादिगणीय अम–रोगे[31] (अम्) धातुओ से तन् प्रत्यय करने पर अनन्त शब्द बनता है। 'नास्ति अन्तो यस्य' अर्थात् अन्तरहित, सीमा रहित, अपरिमीत, निस्सीम, अक्षय। गुणो में जिसका कभी अन्त नहीं पाया जा सके वह अनन्त है। भगवान् ऋषभदेव के

इस विशेषण से उनकी निस्सीमता, मृत्युरहितता, अगाधता अभिव्यजित है, अर्थात् वे अगाध है, निस्सीम है। अनन्त ज्ञानदर्शनादि के धारक है इसलिए अनन्त है। अनन्त ज्ञान दर्शन योगादनन्तम्। न अन्तो मृत्युरूपो यस्य तम्। अनन्तचतुष्ट्य समृद्धं वा। (गु वि) अन्तो मृत्युस्तद्रहितमनन्तम् (मेवि) मुक्तिपद-प्राप्तत्वात् मृत्युरहितम् (कवि)। इस विशेषण से भगवान् के चार रूपो पर प्रकाश पडता है --

1 अनन्त ज्ञान सम्पन्न,

2 मृत्यु रहित,

3 अन्नत दर्शन, ज्ञान, चारित्र और वीर्य रूप अनन्तचतुष्ट्य से सम्पन्न,

4 मुक्तिपद मे प्रतिष्ठित अथवा मुक्त, सिद्ध ।7.4.

7.5. अनेकम्[32] -- यह विशेषण पद द्वितीयान्त है, जिसका अर्थ है– जो एक नही हो, एक से अधिक, बहुत से, अनेक। ज्ञानेन सर्वगतत्वात्। अनेक गुणपर्यायापेक्षया वा (गुवि) अर्थात् ज्ञान से सर्वगत होने से अथवा गुण पर्याय की अपेक्षा से अनेक है।

7.5. अमलम्[33] -- यह द्वितीयाविभक्ति मे प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है-- मलरहित, मलयुक्त, पवित्र, निष्कलक, विमल, विशुद्ध, निष्कपट आदि। भगवान् के इस विशेषण से उनकी मलरहितता, दोषविहीनता, पवित्रता एव निष्कलकता अभिव्यजित है। नमलानि अष्टादश दोषा यस्य तममलम् (गु वि), अमल निर्मल अष्टादशदोपरहितम् निर्लेप मात्र वा (मेवि) न विद्यते रागादिमलोयत्र सोऽमलस्त अष्टादशदोपरहितम्। अर्थात् सम्पूर्ण दोष से रहित भगवान् ऋषभ थे।

7.6 **असंख्यम्**[34] -- इस द्वितीयान्त पद का अर्थ है -- गिनती से रहित, गणनारहित, अनगिनत। जिनकी गुणों की सख्या न हो। असख्य गुणो के धारक। भगवान् के इस विशेषण से उनमे गुणाधिक्यता अभिव्यक्त है। गुणाना न सख्या इयत्ता यस्य तमसख्यम् (गु.वि.) न विद्यते सख्य युद्ध यस्यतम्, यद्वा गुणानां गणनया रहितम् (मे वृ)। तात्पर्य यह है कि भगवान् के पास इतने गुण है, जिनकी गणना नही की जा सकती है।

7.7. **आदित्यवर्णम्**[35] – इस द्वितीयान्त नाम पद का अर्थ है– आदित्य के समान प्रभा वाले। सूर्य के समान ही जिसकी कान्ति है, वर्ण है, शोभा है वह आदित्यवर्ण है। आदित्यस्येव वर्ण कान्तिर्यस्य (गुवि) आदित्यवर्णम् सूर्यप्रभम् (मेवृ) आदित्यवत् वर्णो यस्यस आदित्यवर्णस्तम् आदित्यवर्णम् (बहु०) इस अभिधान के द्वारा भगवान् की शारीरिक काति, ओज एव दीप्ति का प्रकाशन किया गया है। अनेक स्थलो पर भगवान्, गुरु, ब्रह्म, जिनेश्वर आदि के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ब्रह्म के लिए आदित्यवर्ण शव्द का प्रयोग है--

अदित्यवर्ण तमस परस्तात् (श्वेता 3 8) गीता (8-9) मे भी यह वाक्य प्रयुक्त है। आचार्य शकर ने उपनिषद् एव गीता भाष्य मे इस पद की व्याख्या स्पष्ट रूप से किया है --

आदित्यवर्ण प्रकाशस्वरूपम्।[36]

आदित्यस्य इव नित्यचैतन्य प्रकाशो वर्णो यस्य तम्।[37]

अर्थात् जो नित्यचेतन्यवस्था आत्मप्रकाश से भासित होता है, वह आदित्य वर्ण है। भगवान् ऋषभ के इस

विशेषण से उनका आत्मप्रकाश या नित्यचैतन्य स्वरूप अभिव्यंजित हो रहा है।

मैत्रेयी–उपनिषद् में भी एक जगह ब्रह्म के लिए आदित्यवर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है-- आदित्यवर्णमूर्जस्वन्तं ब्रह्म।[38] आदित्य ज्योतिः विशेषण का प्रयोग भी अपने उपास्य के. लिए किया जाता है – आदित्य ज्योतिः सम्राडिति होवाच।[39]

7.8. **आद्यम्** – यह द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त विशेषणपद है जिसका अर्थ है – प्रथम, आदिकालीन, प्रधान, मुखिया। जो आदि में उत्पन्न हुआ है। आदौभव. आद्यः (गुवि) आदिपुरुषतया प्रसिद्धम् तीर्थंकरेष्वाद्यं प्रथमं आद्यं वा (मेवि) चतुर्विंशति जिनेष्वाद्यस्तमाद्यम् प्रथमं तीर्थंकरम् तस्य तीर्थस्यादिकरत्वादाद्यस्तमाद्यम् – प्रथमम् (कवि)। भगवान् ऋषभ आदिपुरुष चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम थे, आदिकालीन युग में उत्पन्न हुए थे आदि तथ्य 'आद्यम्' विशेषण से प्रकट हो रहा है। अन्यत्र भी इस विशेषण का प्रयोग मिलता है। गीता में अनेक बार श्रेष्ठस्थान, भगवान्, ब्रह्म आदि के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है –

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् (गी. 8 28), विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम् (11 31), तेजोमय विश्वमनन्तमाद्यम् (11 47), तमेव चाद्यं पुरुष प्रपद्ये (15.4)।

7.9 **ईश्वरम्** – त्रैलोक्यपूज्य, अनन्तशक्तिसम्पन्न, समर्थ आदि। अदादिगणीय ईश–ऐश्वर्ये[40] धातु से वरच्[41] (वर) प्रत्यय करने पर ईश्वर शब्द बनता है। केवल ज्ञानादि महान्ऐश्वर्य से विभूषित ईश्वर होता है। केवलज्ञानादि

गुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति।[12] अर्थात् केवलज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए इन्द्रादि भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, वह ईश्वर होता है। परमैश्वर्य से सम्पन्न होता है वह ईश्वर है। भगवान् ऋषभदेव ज्ञानादि परमविभूतियों से सम्पन्न थे इसलिए ईश्वर थे, ऐश्वर्यवान् थे।

स्वादिगणीय अशूड् व्याप्तौ धातु से वरट् प्रत्यय एवं उपधा (अ) को ई करने पर ईश्वर शब्द बनता है।[13] जो सर्वव्यापक है वह ईश्वर है। भगवान् ऋषभ अपने ज्ञानादि गुणों के द्वारा सर्वव्यापक थे, उन्हें सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान था इसलिए उनके चरित्र मे ईश्वरत्त्व संगठित होता है।

योगसूत्रकर पतंजलि ने अविद्या, कर्म, क्लेशादि से विमुक्त पुरुष विशेष को ईश्वर कहा है – क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरूष विशेष ईश्वरः'[45] अर्थात् अविद्यादि क्लेश, पाप–पुण्य रूप कर्म, उन कर्मो के फलएव वासनाओ से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर कहते है। भगवान् ऋषभदेव अविद्यादि से पूर्णतया रहित थे, इसलिए उनके चरित्र में ईश्वर विशेषण पूर्णतया संगठित होता है।

भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारो ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है – सकलसुरेषु ईशितु शीलमस्य तमीश्वरं, कृतार्थ वा (गुवि) त्रैलोक्यपूजनीयत्वेन अनन्यतुल्यैश्वर्यधारिणं (मे.वि) ईश्वरम् नाथम्। अर्थात् जो सर्वपूज्य हो, वह ईश्वर है।

अन्यत्र भी अपने उपास्य के लिए ईश्वर श
प्रयोग मिलता है।

ईश्वरो ह तथैव स्यात् (बृह० 1.4 8)

ईश्वरः सर्वभूतानाम् — (महानारायण० 17 5)

प्रणवो हीश्वरं विद्यात् (गौडपादकारिका 1 28)

ईश्वरः परमो देवः (ब्रह्मविद्योपनिषद् 7)

सर्वगो ह्येष ईश्वरः (नृसिंहोत्तर 9)

भूतनामीश्वरोऽपि सन् (गीता 4 6)

समवस्थितमीश्वरम् (गीता 3 28)

भागवत पुराण के अनेक स्तोत्रो मे ईश्वर श
प्रयोग हुआ है। भगवान् कृष्ण की स्तुति करत
कुन्ती कहती है

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः पर

7.10. एकम् -- यह द्वितीयान्त पद है इसका अर्थ होता
एक, अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ केवल, मुख्य। अदादि
इणगतौ[47] धातु से 'इण्भीकपाशल्यतिमर्चिभ्य.
उणादि सूत्र से कन् प्रत्यय करने पर एक
बनता है।

एकम् -- अद्वितीयमुत्तमम् (मेवृ)। यहा पर भ
की अद्वितीयपना, श्रेष्ठता, उत्तमोत्तमता आदि के प्रति
के लिए 'एकम्' विशेषण का प्रयोग किया गया

आत्मा, व्रह्म एवं ईश्वर के लिए अनेक स्थल
'एकम्' शव्द का प्रयोग किया गया है।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् -- ऐतरेय० 1 1

एकमेवाद्वितीयम् -- छान्दोग्य० 6 2 1

एको ह वै नारायण आसीत् -- महानारायणोपनिषद्० 11

तदेकं वद निश्चित्य -- गीता 3.2

व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा· -- गीता 11 20

मामेकं शरणं व्रज. गीता. 18 66

7.11. गुण समुद्र[49] – यह विशेषण भगवान् के लिए सम्बोधन में प्रयुक्त है। अगाधता, गंभीरता, स्थिरता, मर्यादा, प्रसन्नता आदि गुणो की अभिव्यंजना के निमित समुद्र को उपमान बनाया जाता है। यह विशेषण रूपक अलंकार मे प्रयुक्त है – गुणो के समुद्र, अनन्त गुणो के धारक। जैसे समुद्र अनन्तानन्त मणियो, रत्नो, मुक्ताओ को धारण करता है। वैसे ही भगवान् स्थैर्य, गाभीर्य, महाव्रत, तप, निष्ठा आदि अनन्त गुणो के खनि है। भगवान् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्यादि महार्ध्य रत्नो के सागर है, इसलिए भक्तामरकार ने रूपक गर्भित विशेषण गुणसमुद्र का प्रयोग किया है। गुण समुद्र -- स्थैर्यगाभीर्यगुण रत्नाकर (गुवि) अर्थात् स्थैर्य, गाभीर्य आदि गुण रूपी रत्नो के आकर। गुणरत्नाकर – (कवृ)।

7.12. क्षितितलामलभूषणाय[50]– यह भगवद्विशेषण चतुर्थी विभक्ति मे 'नमः' उपपद के साथ प्रयुक्त हुआ है, जो भगवान् की विमलता, उत्कृष्ट शोभारूपता, अमल सौन्दर्य एवं पूज्यता का प्रतिपादन करता है। यह विशेषण ही भगवान् ऋषभ के मनुष्य रूप का उद्घाटन करता है, साथ ही इस तथ्य की भी उद्घोषणा करता है कि जो व्यक्ति श्रेय मार्ग का अनुष्ठान करता है, महापथ का सन्धान करता है, वह क्षितितल का, धरती का, सम्पूर्ण विश्व का अमलविभूषण बन जाता है। सुन्दरता की

खनि, वल्गुता का आकर, ऋजुता का उत्पत्तिस्थान और लावण्य का अक्षयकोष हो जाता है। क्षितितलामलभूषणाय-भूपीठस्य निर्मलालङ्काराय। यो विमलकलया भुवनमलंकुरुते स नमस्यः। (गुवि) अर्थात् जो अपनी विमलकलाओ से, उत्कृष्ट गुणों से धरती को अलंकृत करता है वह नमस्य है, नमस्कार करने योग्य है। भूलोकालंकरणाय (मेवृ.)।

7.13 **जिन**[51] -- यह विशेषण एक बार सम्बोधन में प्रयुक्त है। यह शब्द भ्वादिगणीय 'जि-जये अभिभवे च'[52] सूत्र से नक् प्रत्यय होकर बनता है, जिसका अर्थ है विजयी, विजेता जेता आदि। राग, द्वेष, काम, क्रोध, माया, लोभ, मोह आदि कषायों को जो जीत लेता है वह जिन है -- रागद्वेषमोहान् जयन्तीति जिनाः[54]। मूलाचार में जिन का स्वरूप वर्णित है -- जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणाहोंति। अर्थात् क्रोधादि कषायों के जीत लेने के कारण जिन कहलाते है। नियमसार तात्पर्यवृत्ति मे लिखा है -- अनेक जन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिन[56] अर्थात् अनेक जन्म रूप अटवी (भयंकर जंगल) को प्राप्त कराने वाले हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेषादि को जो जीत लेता है वह जिन है। अनेकभवगहन विषय व्यसन प्रापणहेतुन् कर्मारातीन् जयतीति जिन[57] अर्थात् अनेक भवों के गहन विषय रूप संकटों के प्राप्ति के कारणभूत कर्मरूप शत्रुओ को जीतता है वह जिन है। भगवान् ऋषभदेव के इस विशेषण से उनके निम्नलिखित गुणो पर प्रकाश पडता है --

1 *वे कामक्रोधादि कषायो के विजेता थे।*

2 उन्होंने अपने सम्पूर्ण कर्मों का विनाश कर दिया था, तथा

3. शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित थे।

7.14. जिनेन्द्र[58]– यह विशेषण भक्तामर स्तोत्र में चार बार प्रयुक्त हुआ है। एक बार द्वितीय विभक्ति – जिनेन्द्रम् (2)तथा शेष सम्बोधन में (जिनेन्द्र! 36, 37, 48) प्रयुक्त हुआ है। जिनों – अर्हतों में श्रेष्ठ को जिनेन्द्र कहते है। इस विशेषण के द्वारा भगवान् की श्रेष्ठता प्रतिपादित है।

7.15. जगत्प्रकाश[59] – यह रूपक गर्भित विशेषण है जो सम्बोधन मे प्रयुक्त है। जगद् विश्रुत, विश्रुत, जगद् विख्यात। जगत्प्रकाश – जगद्विश्रुतः। अथवा जगच्चरिष्णुः सर्वत्र प्रसारी प्रकाशो – ज्ञानालोको यस्य सः (गुवि) अर्थात् जो जगद्विख्यात हैं अथवा जिनका ज्ञानप्रकाश सर्वत्र व्याप्त है। जगत्प्रकाश भुवनावभासी (मेवृ.) इस विशेषण से भगवान् की भुवनावभासिता अभिव्यजित है।

7.16. ज्ञान स्वरूपम्[60] – यह द्वितीया विभक्ति मे प्रयुक्त नवमात्रिक विशेषण है। इसका अर्थ है – क्षायिक ज्ञान सम्पन्न, केवल ज्ञान से विभूषित, सर्वज्ञ आदि। भगवान् केवल ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानं-क्षायिकं केवलं स्वं-स्वकीयं तं ज्ञानस्वरूप चिद्रूपं वा (गुवि) अर्थात् केवलज्ञान ही जिसका स्वरूप है, अथवा चिद्रूप है, वह ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानस्वरूपं – केवलज्ञानमयम् (मेवृ)। इस विशेषण के द्वारा 'भगवान् केवलज्ञान सम्पन्न थे' इस तथ्य का ध्वनन तो हो ही रहा है साथ ही आत्मा और ज्ञान की अद्वैतता भी समुद्घाटित है। अन्यत्र शताधिक स्थलों पर अपने उपास्य को ज्ञान स्वरूप कहा गया है।

उपनिषदो मे अनेक स्थलो पर ज्ञान को ही ब्रह्म अथवा आत्मा कहा गया है:–

सत्य ज्ञामनन्तं ब्रह्म – तैत्तिरीय० 2 1 1

सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म – स्वरूपोपनिषद्–3

ज्ञानं ज्ञानवतामहम् – गीता 10 38

7.17. तमसः परस्तात्[61] -- अन्धकार से दूर विद्यमान, पाप से रहित। यहा 'परस्तात्' अव्यय पद है, जो परे, के दूसरी ओर, और आगे, इसके पश्चात्, बाद मे आदि अर्थो मे प्रयुक्त होता है। जो अज्ञानरूप अन्धकार से रहित हो, सर्वथा ज्ञानलोक मे प्रतिष्ठित हो वह 'तमस परस्तात्' है। तमसो दुरितस्य परस्तात् परतो वर्तमानम् (गुवि) अर्थात् पाप से दूर विद्यमान, पाप रहित। टीकाकार मेघविजय सूरि ने परस्तात् के जगह पर पुरस्तात् रूप मानकर व्याख्या की है -- पुरस्तात् अग्रे। कस्य? तमस अस्पष्टातिनिबिडान्तरान्धकारस्य अज्ञानस्य। अर्थात् अत्यन्त निविड अज्ञान रूप अन्धकार से आगे विद्यमान। इस विशेषण के द्वारा भगवान् का पापरहित, विमलज्ञानविभूषित विशुद्ध स्वरूप पर प्रकाश पडता है। अन्यत्र अनेक स्थलो पर 'तमस परस्तात्' का प्रयोग इसी अर्थ मे ब्रह्म के लिए हुआ है। देखे 'आदित्यवर्ण' की व्याख्या।

7.18. त्रिजगदीश्वर[62] -- यह सबोधनात्मक विशेषण है, जिसका अर्थ है -- तीनो लोकों का स्वामी, तीनो लोको का नाथ, सम्पूर्ण ससार के मालिक। त्रिजगदीश्वर – त्रिजगन्नाथ (गुवि) त्रिभुवनस्वामिन् (मेवृ) इस विशेषण के द्वारा भगवान् की भगवत्ता का समुद्घाटन हो रहा है।

7.19 **त्रिभुवनार्तिहराय**[63] – यह विशेषण चतुर्थी विभक्ति में प्रयुक्त है। तीनों भुवन – समस्त जीव जाति के दु:खों के विनाशक। इस विशेषण के द्वारा भगवान् के भक्तोद्धारक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। त्रिभुवनार्तिहराय-सद्वचः करणाभ्यां विश्वत्रयपीडा नाशकाय (गुवि) त्रिजगतः पीडानिवारकाय (मेवृ)। भगवान् आर्तिहर होते हैं। कुन्ती अपने प्रभु श्रीकृष्ण की स्तुति करती हुई 'आर्तिहर' विशेषण का प्रयोग करती है –

गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार[64]

7.20. **धाता**[65] – यह प्रथमान्त विशेषण है। जुहोत्यादिगणीय धाञ् 'धारण–पोषणयो:'[66] धातु से तृच् प्रत्यय करने पर धाता शब्द निष्पन्न होता है। यह निर्वचनात्मक विशेषण है। अर्थात् स्वयं स्तोत्रकार ने ही इस शब्द की व्युत्पत्ति बता दी है – 'धाताऽसि धीर! शिवमार्ग विधेर्विधानाद्'[67] अर्थात् हे धीर! रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग के स्रष्टा होने के कारण तुम धाता (ब्रह्मा) हो। ब्रह्मा का जगत्कर्तृत्व विख्यात है। भगवान् ऋषभ रूप मोक्षमार्ग के प्रतिष्ठापक थे। इसलिए धाता विशेषण का प्रयोग किया गया।

7.21. **धीर**[68] – यह संबोधनात्मक विशेषण है। धी उपपद पूर्वक चुरादिगणीय ईर-क्षेपे एवं अदादिगणीय 'ईर गतौ कम्पने च'[69] धातुओ से अण् प्रत्यय करने पर 'धीर' शब्द निष्पन्न होता है। 'धियम् ईरयतीति'[70] अर्थात् जो बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रक्षेपित करे, प्रेरित करे वह धीर है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है बहादुर, स्थिर, सुदृढ़ धैर्यवान्, स्वस्थचित्त, शान्त, सौम्य, बुद्धिमान आदि।

धी उपपद पूर्वक अदादिगणीय रा दाने [illegible] प्रत्यय करने पर भी धीर शब्द की निष्पत्ति [illegible]

धियं रातीति[71] अर्थात् जो धी सम्पन्न हो वह धीर है। विश्व के प्राचीन भाषा वैज्ञानिक महर्षि यास्क ने धीर शब्द को व्युत्पन्न किया है – धीरो धीमान्[72] अर्थात् धीमान् या बुद्धिमान धीर होता है। अमरकोशकार ने धीर, मनीषि, ज्ञ, प्राज्ञ, संख्यावान्, पण्डित, कवि आदि को एकार्थक माना है।[73] जैन वाङ्मयमे धीर शब्द की अनेक व्युत्पत्तिया एव निवर्चन मिलते है –

1. धीः बुद्धि सा जस्य अत्थि सो धीरो।[74]
2. धी बुद्धि· इत· परिगत तया इति धीर·।[75]
3. धी बुद्धिस्तया राजन्त इति धीरा।[76]
4. बुद्ध्यादीन् गुणान् दधातीतिधीर·।[77]

अर्थात् जो बुद्धिसम्पन्न है, बुद्धिमान है, बुद्धि से परिव्याप्त है, बुद्धि अथवा ज्ञान से सुशोभित है, अथवा श्रेष्ठ गुणो को धारण करते है वे धीर है, अथवा श्रेष्ठ गुणो को धारण करते है वे धीर है। नियमसार तात्पर्यवृत्ति मे धीर की व्याख्या की गई है -- निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगम्भीरा[78] जो निखिल घोर उपसर्गो पर, कषायो पर विजयप्राप्त कर लेते है वे धीर है। ध्येय के प्रति गमनसमर्थ व्यक्ति धीर कहलाता है -- 'ध्येय प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युपदिश्यते'[79] अर्थात् ध्येयो के प्रति जिनकी बुद्धिगमन करती है या प्रेरणा करती है उन्हे धीर कहते है। तात्पर्य है कि जो स्थिरचेता हो, लक्ष्य के प्रति जागरूक हो, वुद्धिमान् हो, विद्वान्, हो वह धीर है। भगवान् ऋषभदेव मे ये सारे गुण स्थिरतया विद्यमान है इसलिए धीर विशेषण की सार्थकता सिद्ध हे।

7.22. नाथ -- भक्तामर–स्तोत्र मे सबसे अधिक विभिन्न रूपो मे इसी विशेषण का प्रयोग हुआ है। पाच स्थलो पर सम्बोधन मे (श्लोक सख्या 8,16,19, 21, 26) एक स्थल पर द्वितीया विभक्ति मे -- नाथम् (14) तथा एक स्थल पर समासयुक्त संबोधन (भूत शब्द के साथ) के रूप मे – भूतनाथ (10) का विनियोग हुआ है। यह शब्द भ्वादिगणीय नाथृ याञ्चोपतापैश्वर्याऽऽशीषु[80] (नाथ) धातु से अच् प्रत्यय होकर बनता है। ईश्वर, स्वामी, मालिक, प्रभु आदि इसके अर्थ है। जिससे याचना किया जाय, प्रार्थना किया जाय, जो समर्थ हो, ऐश्वर्यवान् हो वह नाथ है। जो उपासना का विषय हो, स्तुतियो का आलम्बन हो, भक्तो का आर्तिहारक हो, वह नाथ शब्द से वाच्य है। प्रभु ऋषभ जिनेश्वर ससार मे डूबते जीवो के लिए सहारा है, दलितो के, पीडितो के, आर्तो के समुद्धारक है इसलिए नाथ है।

भक्ति साहित्य अथवा स्तुतिसाहित्य का यह अतिप्रिय शब्द है, खाशकर वैसे स्थलो पर जहा भक्त का प्राण सकट मे है। आर्त–स्तुतियों में इसका प्रभूत उपयोग हुआ क्योकि 'नाथ' शब्द मे वह शक्ति निहित है, सामर्थ्य की ज्योत्स्ना तरगित है कि जिस किसी ने हृदय की ध्वनितरगों पर इसे बैठा लिया समझिए कि उसका बेडा पार हो गया। जब उत्तरा मृत्युसकट मे फंस जाती है। तो अपने नाथ के शरण मे जाती है।

कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्।।[81]

हे नाथ भले ही यह आग्नेयास्त्र मुझे जला दे लेकिन मेरे गर्भ का पतन न हो। विश्वप्रसिद्ध गोपी गीत मे गोपिया कहती है --

धिय रातीति[71] अर्थात् जो धी सम्पन्न हो वह धीर है। विश्व के प्राचीन भाषा वैज्ञानिक महर्षि यास्क ने धीर शब्द को व्युत्पन्न किया है – धीरो धीमान्[72] अर्थात् धीमान् या बुद्धिमान धीर होता है। अमरकोशकार ने धीर, मनीषि, ज्ञ, प्राज्ञ, सख्यावान्, पण्डित, कवि आदि को एकार्थक माना है।[73] जैन वाङ्मयमे धीर शब्द की अनेक व्युत्पत्तिया एव निवर्चन मिलते है –

1. धी बुद्धि सा जस्य अत्थि सो धीरो।[74]
2 धी बुद्धि इत परिगत· तया इति धीर·।[75]
3 धी बुद्धिस्तया राजन्त इति धीरा।[76]
4 बुद्धयादीन् गुणान् दधातीतिधीर·।[77]

अर्थात् जो बुद्धिसम्पन्न है, बुद्धिमान है, बुद्धि से परिव्याप्त है, बुद्धि अथवा ज्ञान से सुशोभित है, अथवा श्रेष्ठ गुणो को धारण करते है वे धीर है, अथवा श्रेष्ठ गुणो को धारण करते है वे धीर है। नियमसार तात्पर्यवृत्ति मे धीर की व्याख्या की गई है -- निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगम्भीरा[78] जो निखिल घोर उपसर्गो पर, कषायो पर विजयप्राप्त कर लेते है वे धीर है। ध्येय के प्रति गमनसमर्थ व्यक्ति धीर कहलाता है -- 'ध्येय प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युपदिश्यते'[79] अर्थात् ध्येयो के प्रति जिनकी बुद्धिगमन करती है या प्रेरणा करती है उन्हे धीर कहते है। तात्पर्य है कि जो स्थिरचेता हो, लक्ष्य के प्रति जागरूक हो, बुद्धिमान् हो, विद्वान्, हो वह धीर है। भगवान् ऋषभदेव मे ये सारे गुण स्थिरतया विद्यमान हैं इसलिए धीर विशेषण की सार्थकता सिद्ध है।

7.22. नाथ -- भक्तामर–स्तोत्र मे सबसे अधिक विभिन्न रूपो मे इसी विशेषण का प्रयोग हुआ है। पांच स्थलो पर सम्बोधन मे (श्लोक सख्या 8.16,19. 21, 26) एक स्थल पर द्वितीया विभक्ति मे -- नाथम् (14) तथा एक स्थल पर समासयुक्त सबोधन (भूत शब्द के साथ) के रूप मे – भूतनाथ (10) का विनियोग हुआ है। यह शब्द भ्वादिगणीय नाथृ याञ्चोपतापैश्वर्याऽऽशीषु[80] (नाथ) धातु से अच् प्रत्यय होकर बनता है। ईश्वर, स्वामी, मालिक, प्रभु आदि इसके अर्थ है। जिससे याचना किया जाय, प्रार्थना किया जाय, जो समर्थ हो, ऐश्वर्यवान् हो वह नाथ है। जो उपासना का विषय हो, स्तुतियो का आलम्बन हो, भक्तो का आर्तिहारक हो, वह नाथ शब्द से वाच्य है। प्रभु ऋषभ जिनेश्वर ससार मे डूबते जीवो के लिए सहारा है, दलितो के, पीडितो के, आर्तो के समुद्धारक है इसलिए नाथ है।

भक्ति साहित्य अथवा स्तुतिसाहित्य का यह अतिप्रिय शब्द है, खाशकर वैसे स्थलो पर जहा भक्त का प्राण सकट मे है। आर्त–स्तुतियो मे इसका प्रभूत उपयोग हुआ क्योकि 'नाथ' शब्द मे वह शक्ति निहित है, सामर्थ्य की ज्योत्स्ना तरगित है कि जिस किसी ने हृदय की ध्वनितरगो पर इसे बैठा लिया समझिए कि उसका बेडा पार हो गया। जब उत्तरा मृत्युसकट मे फस जाती है। तो अपने नाथ के शरण मे जाती है।

कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्।।[80]

हे नाथ भले ही यह आग्नेयास्त्र मुझे जला दे लेकिन मेरे गर्भ का पतन न हो। विश्वप्रसिद्ध गोपी गीत मे गोपिया कहती है --

सुरतनाथ तेऽशुल्कदाशिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः।।[81]

7.23. **परमं पुमांसम्**[82] -- यह विशेषण द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ पुरूष, सत्त्वरजतमादि त्रिगुणों से रहित पुरुष, समर्थपुरुष आदि। टीकाकारो ने इस पद की समीचीन व्याख्या की है– परम पुमासम्– परम पुरुषम् (गुवि) सत्त्वरजस्तमोगुणातीत त्रिजगद्ध्येय निर्विकारम् (मेवृ) अर्थात् जो निर्विकार है, गुणातीत है वह परमपुरुष है। इस विशेषण पद के द्वारा भगवान् ऋषभदेव की त्रिगुणातीतावस्था एव निर्विकारता अभिव्यजित है।

अन्यत्र भी ईश्वर, ब्रह्म, समर्थ आदि को परम या पुरुष या परमपुरुष विशषणो से अभिहित किया है--

पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।[83]

7.24. **परमेश्वराय**[84] -- यह एकबार चतुर्थी विभक्ति मे प्रयुक्त है। परम और ईश्वर दो पदो के मेल से परमेश्वर शब्द बनता है, जिसका अर्थ है सर्वशक्तिमान्, सर्वश्रेष्ठ, सर्वसमर्थ आदि। टीकाकारो ने त्रैलोक्यपति, त्रैलोक्यनाथ आदि अर्थ किया है -- परमेश्वराय–प्रकृष्टनाथाय–(गुवि) त्रैलोक्यनायकाय (मेवृ.)। भगवान् ऋषभ देव गुणो मे श्रेष्ठ थे इसलिए उनमे परमेश्वरत्व सघटित होता है। अन्यत्र आत्मा, ब्रह्म, पुरुष, भूताधिवास, चिन्मय आदि के लिए परमेश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है।

एषपरमेश्वर एषभूताधिवास – वृहदारण्यक 4-4-22

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम् – मैत्रेय्युपनिषद् I 8 गीता मे कृष्ण को परमेश्वर कहा गया है –

आत्मानं परमेश्वरम् (गी 11 3), एक जगह पर परमेश्वर को सभी भूतो मे समवस्थित तथा विनाशियो मे अविनाशी कहा गया है –

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।[85]

स्तोत्र साहित्य का यह प्रिय शब्द है – अनेक स्तोत्रो मे इसका प्रभूत प्रयोग मिलता है।

7.25. **पुरुषोत्तम**[86] – यह प्रथमा विभक्ति मे प्रयुक्त विशेषण है, जिसका अर्थ है पुरुषश्रेष्ठ, सर्वोत्तम, सर्वप्रधान आदि। टीकाकारो ने इसका अर्थ किया है – पुरुषोत्तम. प्रकृष्टपुरुषेषूत्तम. यत आजन्मासौ परार्थव्यसनी उचितक्रियावान् त्वत्तो नान्य पुरुषोत्तम जगद्वन्द्यत्वेन त्व पुरुषोत्तमो निश्चीयत इति (मेवृ) अर्थात् उत्कृष्ट गुणो अथवा जगद्वन्दनीय होने के कारण भगवान् ऋषभ भी पुरुषोत्तम है। इस विशेषण से भगवान् की उत्कृष्टता अभिव्यंजित है।

अन्यत्र अनेक स्थलो पर 'पुरुषोत्तम' विशेषण का प्रयोग ब्रह्म, ईश्वर, ईष्ट पूज्य आदि के लिए किया गया है। गीता मे अनेक स्थलो पर भगवान् श्रीकृष्ण के लिए पुरुषोत्तम[87] शब्द का प्रयोग हुआ है।

7.26. **बुद्ध**[88] -- यह प्रथमान्त विशेषण है, जिसका अर्थ है ज्ञानप्रकाश से युक्त, तत्त्वज्ञ, ज्ञात, सर्वज्ञ आदि। स्वय भक्तामरकार ने इसका अर्थ बाताया है – बु ...

विबुधार्चित। बुद्धि–बोधात्। अर्थात् आपके

अथवा केवल ज्ञान की ज्ञानियो ने प्रशंसा की है इसलिए आप ही बुद्ध है। तात्पर्य है कि भगवान् ऋषदेव तत्त्वज्ञ थे, केवलज्ञानी थे, इसलिए बुद्ध विशेषण का प्रयोग किया गया है।

7.27. **ब्रह्माणम्**[89] -- यह ब्रह्मा शब्द का द्वितीयान्त प्रयोग है। भ्वादिगणीय बृह वृद्धौ और बृहि–वृद्धौ[90] धातु से 'बृहेर्नोच्च'[91] उणादिसूत्र से मनिन् प्रत्यय एव नकार का आकार करने पर ब्रह्मा शब्द बनता है, जो आत्मभू, स्वयभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, महावीर्य, मुक्ति, मोक्ष आदि अर्थो का अभिव्यजक है। बृहतीति वर्धते य[93] अर्थात् जो वर्धनशील है या जिसमे गुणसम्बर्धित होते है। सर्वार्थसिद्धिकार ने निर्देश दिया है कि अहिसा गुण जिसके पालने पर बढते है वह ब्रह्म कहलाता है – अहिसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहति बृद्धि उपयान्ति तद् ब्रह्म'।[94] टीकाकारो ने लिखा है – बृहति – अनन्तानन्देन वर्धत इति ब्रह्म त, ब्रह्म-निर्वाणतद्योगात् (गुवि) अर्थात् जो अनन्त आनन्द मे बर्धित होता है अथवा निर्वाण मे प्रतिष्ठित है वह ब्रह्म है। तीर्थादिकरत्वेन धर्मसृष्टिप्रणयनाद् विधातारम् (मेवृ), बृहति अनन्तानन्देन बर्धते इति ब्रह्म (कवृ)। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान दर्शनादि मे निष्ठित होकर आनन्दमय हे वह ब्रह्म है अथवा जो अनन्त चतुष्टय का धारक है वह ब्रह्म है। भगवान् ऋषभदेव महाव्रतनिष्ठ, आनन्दस्वरूप एव निर्वाण मे प्रतिष्ठित अथवा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध एव चैतन्यावस्था को प्राप्त कर चुके थे इसलिए 'ब्रह्म विशेषण सार्थक एवं साभिप्राय प्रयुक्त है।

7.28. **भगवन्**[95] -- यह संवोधन मे प्रयु
को जो धारण करे वह भगवान्

कहते है और जिसमे षडैश्वर्य विद्यमान हो वह भगवान् है –

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीर्यते।।

इति स्मृतेर्भग षडविधमैश्वर्य सोऽस्यास्तीति भगवान्[96]।

मनुस्मृतिकार ने भगवान् की परिभाषा इस प्रकार दी है--

उत्पत्ति विनाशंच भूतानामगतिं गतिम् च।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।

अर्थात् जो प्राणियो की उत्पत्ति और विनाश को, अगति और गति को तथा विद्या और अविद्या को जानता हो उसे भगवान् कहते है। जैन वाड्मय मे विस्तार से इस शब्द पर प्रकाश डाला जाता है –– भज्यत इति भग[97] अर्थात् जिसका विभाग किया जाता है या जिसे भोगा जाता है वह ऐश्वर्य भग है। भाति-दीप्यते भ्राजन्तो वेति,[98] अर्थात् जो ज्ञान, तप आदि गुणो की दीप्ति से भासित होता है, दीप्त होता है, चमकता है, सुशोभित होता है वही भग है। विशेषावश्यक भाष्य मे भी भग की ओर निर्देश किया गया है –

इस्सरियरूवसिरिजस धम्मपयत्तामया भगाभिक्खा,[11] अर्थात् ऐश्वर्य, रूप, श्री, यश, धर्मादि भगपदवाच्य है। धवलाकार ने ज्ञान, धर्मादि को भग कहा है तथा जिसमे ये विद्यमान है वह भगवान् है –

ज्ञान धर्म माहात्म्यानि भगः सोऽस्यास्तीति भगवान्[100] तात्पर्य है कि जो रूप, श्री, ज्ञान, वैराग्यादि से सम्पन्न है वही भगवान् है। जिनेश्वर ऋषभ भग, ऐश्वर्य, ज्ञान,

वैराग्य, यश, धर्म, श्री से युक्त थे इसलिए उनके चरित्र मे भगवान् पद की सार्थकता सिद्ध है।

7.29. **भवोदधिशोषणाय**[101] -- यह विशेषण चतुर्थी विभक्ति मे प्रयुक्त है। संसार समुद्र का शोषक, भव विनाशक। भक्त का भगवान् उसके संसारिक दु.खो का विनाशक होता है। भगवान् ऋषभदेव का संसार संतारक स्वरूप इस विशेषण के द्वारा प्रकट हो रहा है। टीकाकारो ने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है -- ससार सागर सतापनाय (गुवि कवृ), संसारसागरलाघवकारकाय (मेवृ)। अन्य स्तोत्रों में भी उपास्य के ससारसंतारक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। कुन्ती कहती है – हे प्रभो आपका चरणकमल के दर्शन से भवप्रवाह (ससार प्रवाह) उपरमित हो जाता है, समाप्त हो जाता है। जो लोग आपके नामकीर्तन, स्तवन आदि करते है वे शीघ्र ही आपके भवविनाशक चरणकमलो का दर्शन कर लेते है –

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।[102]
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।।

श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए देवगण कहते है --

त्वय्यम्बुजाक्षाखिल सत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्।।
स्वयं समुतीर्य सुदुस्तरं द्युमन्

भवार्णवं भीममदभ्र सौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुह नावमत्र ते
निधाय याता सदनुग्रहो भवान्।।[103]

अर्थात् हे कमल नयन कुछ लोग समस्त प्राणियो के आश्रयभूत आपमे चित्तलगाकर आपके चरणकमल रूपी जहाज का आश्रय लेकर संसार-सागर को बछडे के खुर के गढे के समान अनायास ही पार कर जाते है। न जाने कितने भक्तो ने इसी जहाज से ससार सागर को पार किया है। हे प्रकाश रूप प्रभो आपके भक्त आपके चरण कमलों का आश्रय लेकर शीघ्र ही भयकर ससार सागर को पार कर ही जाते है अन्य के लिए भी आपके चरणकमल रूप सशक्त नौका स्थापित कर जाते है। इस प्रकार अनेक स्थल उपलब्ध है जहा पर उपास्य के भवोदधिशोषक, संसारसागरसतारक, भवबन्धनविनाशक स्वरूप पर प्रकाश पडता है।

7.30. **भुवनभूषण**[104] – यह सबोधन मे प्रयुक्त विशेषण है। जो ससार का विभूषण है, शोभा है, जिससे धरती अलकृत है। भुवनभूषण-जगन्मडन (मेवृ)। भगवान् ऋषभदेव अपनी गुणवत्ता के कारण संसार के विभूषण बन गये थे।

7.31. **मुनीन्द्र**[105] -- यह दो बार सबोधन मे प्रयुक्त है। मुनियो मे सयमियो मे, ज्ञानियो मे जो श्रेष्ठ है वे मुनीन्द्र है। यह विशेषण पद दो शब्दो के मेल से बना है मुनि और इन्द्र। मुनि शब्द दिवादिगणीय मन–ज्ञाने[106] धातु से 'मनेरुच्च'[107] उणादि सूत्र से इन् (इ) एव अ का उ करने पर मुनि बनता है। मनुते जानाति इति मुनि.[108] अर्थात् जो जानता है, ज्ञानी है वह मुनि है। मननात्

मुनिरुच्यते[109] अर्थात् अवबोध प्राप्त करने से मुनि कहलाता है। गीताकार गोविन्द ने मुनि को पारिभाषित किया है—

दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।[110]
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीर्मुनिरुच्यते।।

अर्थात् दु ख में अनुद्विग्न (स्थि), सुख मे स्पृहारहित, रागादि से रहित स्थित बुद्धि वाला व्यक्ति मुनि कहलाता है। मनन मात्र भावस्वरूप होने से मुनि है -- मनन मात्रभावस्वरूपतया मुनि·।[111] ज्ञानी अथवा सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त मुनि होता है — मुनयोऽवधिमन पर्यायकेवलज्ञानिनश्च।[112] **जो पापादि से विरत रहता है वह मुनि है** -- सावज्जेसु मोणवतीति मुणी'[113]अर्थात् जो सावद्य कार्यो के प्रति मौन है वह मुनि है। त्रिकालज्ञ को मुनि कहते है --

मुणतीति मुणी[114]
मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः[115]
मन्यतेऽसौ मुनिः[116]

अर्थात् जो सयमी है, सर्वज्ञ है, ज्ञानी है, बुद्धिमान है, त्रिकालज्ञ है, जिसका वचन प्रमाण है वह मुनि है। ऐसे मुनियो मे, श्रमणो मे, सन्यासियो मे भगवान् ऋषभ श्रेष्ठ थे। इसलिए मुनीन्द्र विशेषण का प्रयोग किया गया है।

7.32. **मुनीश**[117] — यह विशेषण सबोधन मे दो स्थलो पर प्रयुक्त हुआ है। मुनियों के ईश मुनीश है। इस विशेषण से भगवान् की श्रेष्ठता अभिव्यजित है। मुनि[illegible] का विश्लेषण पूर्ववत् है।

7.33. **विबुधार्चित पादपीठ**[118] -- यह विशेषण संबोधन मे प्रयुक्त है। जिसका पादासन -- पैर रखने का आसन विबुधों (देवो विद्वानो) द्वारा पूजित है, अर्चित है, महार्धित है, वह विबुधार्चितपाद पीठ है। इस विशेषण के द्वारा भगवान् की सर्वपूज्यता एवं सर्वश्रेष्ठता गम्य है। टीकाकारों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है – दैवतव्रात पूजित पदासन (गुवि), देवपूजितचरणन्यास स्थान (मेवृ०), देवपूजित चरणासन (कवृ)।

7.34. **विभु**[119] – यह शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। एक बार द्वितीया विभक्ति मे – विभुम्[120] तथा दूसरी बार सम्बोधन मे – विभो.[121] का प्रयोग किया गया है। यह शब्द वि उपसर्ग पूर्व भ्वादिगणीय भू सत्तायाम्[122] धातु से डु (उ) प्रत्यय होकर बनता है, जिसका अर्थ है – ताकतवर, शक्तिशाली, प्रमुख, सर्वोपरि, समर्थ, योग्य, आत्मसयमी, धीर, जितेन्द्रिय, सर्वव्यापक, सर्वगत, आत्मा, स्वामी, शासक, प्रभु, राजा ब्रह्मा विष्णु आदि।[123] न्याय दर्शन मे आकाश को विभु माना गया है, क्योकि वह देश, काल की सीमा से परे है।[125] वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म को विभु कहा गया है।[126]

उपनिषद् एवं गीता मे अनेक स्थलो पर विभु को ब्रह्म, महान्, नित्य, सर्वगत, चिदानन्द, परिशुद्ध, अज आदि के रूप मे उपस्थापित किया गया है –

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा[127]
नित्यं विभुम् सर्वगतम्[128]
विभुं चिदानन्दमरूपम्[129]
आदिदेवमजं विभुम्[130]

भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारो ने इस पद की विस्तार से व्याख्या की है – विभाति परमैश्वर्येण शोभत इति। विभवति कर्मोन्मूलनसमर्थोभवति इति वा (गुवि) तव ज्ञानस्य विश्वप्रकाशकत्वात् (मे.वृ.) अर्थात् जो ज्ञानादि गुणों से श्रेष्ठ हो, कर्मोन्मूलन समर्थ हो, महान् हो, सच्चिदानन्द स्वरूप हो वह विभु है। भगवान् ऋषभ मे ये सारे गुण संगठित है, इसलिए उनकी विभुता भक्त ससार मे प्रथित है।

इस प्रकार नाम, विशेषण आदि के विवेचन से उपास्य के विभिन्न स्वरूप, गुण, चरित्र, महनीयता आदि पर प्रकाश पडता है। नाम कीर्तन जीव जाति का जीवनाधार है, उसके प्रभाव से व्यक्ति तत्सदृश एव तत्स्वरूप हो जाता है।

****

संदर्भ सूची

1 सिद्धान्तकौमुदी मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास नई दिल्ली 1985] उणादि सूत्र – 600

2 तत्रैव तत्त्वबोधिनी व्याख्या पृ० 558

3 वाचस्पत्यम् पंचमभाग पृ० 4040

4 हलायुध कोश पृ० 387

5 निरुक्त 1-1 (लक्ष्मणस्वरूप द्वारा सम्पादित, मोतीलाल वनारसी दास 1985)

6 तत्रैव 1-1

7 तत्रैव पृ० 104 पर उधृत

8 तत्रैव पृ० 104 पर उधृत (अथर्ववेद प्रातिशाख्य 2-1)

9 अथर्ववेद प्रातिशाख्य 8-55

10 कौटिल्य अर्थशास्त्र 2-10-28

11 बृहद्देवता 1-42

12 जैमिनी सूत्र 2-2-3

13 वाक्यपदीयम् 2-3-43

14 राजवार्तिक 1-5-28-8

15 धवला 9-41-54-2

16 तत्त्वानुशासन, नागसूरिकृत – श्लोक 100

17 उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० २०३

18 गीता 11-38

19 महाभारत, सभापर्व 68 41-43

20 भक्तामर स्तोत्र – 2

भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारो ने इस पद की विस्तार से व्याख्या की है – विभाति परमैश्वर्येण शोभत इति। विभवति कर्मोन्मूलनसमर्थोभवति इति वा (गुवि) तव ज्ञानस्य विश्वप्रकाशकत्वात् (मे वृ) अर्थात् जो ज्ञानादि गुणो से श्रेष्ठ हो, कर्मोन्मूलन समर्थ हो, महान् हो, सच्चिदानन्द स्वरूप हो वह विभु है। भगवान् ऋषभ मे ये सारे गुण सगठित है, इसलिए उनकी विभुता भक्त ससार में प्रथित है।

इस प्रकार नाम, विशेषण आदि के विवेचन से उपास्य के विभिन्न स्वरूप, गुण, चरित्र, महनीयता आदि पर प्रकाश पडता है। नाम कीर्तन जीव जाति का जीवनाधार है, उसके प्रभाव से व्यक्ति तत्सदृश एव तत्स्वरूप हो जाता है।

****

संदर्भ सूची

1 सिद्धान्तकौमुदी मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास नई दिल्ली 1985] उणादि सूत्र – 600

2 तत्रैव तत्त्वबोधिनी व्याख्या पृ० 558

3 वाचस्पत्यम् पचमभाग पृ० 4040

4 हलायुध कोश पृ० 387

5 निरुक्त 1-1 (लक्ष्मणस्वरूप द्वारा सम्पादित, मोतीलाल वनारसी दास 1985)

6 तत्रैव 1-1

7 तत्रैव पृ० 104 पर उधृत

8 तत्रैव पृ० 104 पर उधृत (अथर्ववेद प्रातिशाख्य 2-1)

9 अथर्ववेद प्रातिशाख्य 8-55

10 कौटिल्य अर्थशास्त्र 2-10-28

11 बृहद्देवता 1-42

12 जैमिनी सूत्र 2-2-3

13 वाक्यपदीयम् 2-3-43

14 राजवार्तिक 1-5-28-8

15 धवला 9-41-54-2

16 तत्त्वानुशासन, नागसूरिकृत – श्लोक 100

17 उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० २०३

18 गीता 11-38

19 महाभारत, सभापर्व 68 41-43

20 भक्तामर स्तोत्र – 2

21 तत्रैव – 4

22 तत्रैव – 5

23 तत्रैव – 6

24 भागवत पुराण 5.19 23

25 भक्तामर स्तोत्र – 5

26 भागवतपुराण 9-21-12

27. भक्तामर स्तोत्र – 26

28 सस्कृत धातु–कोष (युधिष्ठिर मीमांसक), पृ० 44

29 भक्तामर स्तोत्र - 26

30 तत्रैव – 24

31 सस्कृत धातु कोष – पृ० 6

32 भक्तामर स्तोत्र – 26

33 तत्रैव – 24

34 तत्रैव -- 24

35 तत्रैव – 24

36 श्वेताश्वतरोपनिषद् 3-8 पर शांकरभाष्य

37 गीता 8-9 पर शांकरभाष्य

38 मैत्रेय्युपनिषद 6 24

39 बृहदारण्यकोपनिषद् 4-3-2

40 सस्कृत धातुकोश – पृ० 12

41 वाचस्पत्यम् खण्ड 2 – पृ० 10

42 द्रव्यसग्रह–14 पर टीका

43 समाधिशतक टीका 6 225 17

44 हलायुध कोश – पृ० 164

45 योगसूत्र 1 24
46 भागवतपुराण 1-8-18
47 सस्कृत धातुकोष – पृ० 10
48 उणादिसूत्र 330 (सिद्धान्तकौमुदी, मेहरचद लक्ष्मणदास 1985 संस्करण पृ० 539)
49 भक्तामर स्तोत्र – 4
50 तत्रैव – 26
51 तत्रैव – 26
52 सस्कृत धातुकोष – पृ० 48
53 उणादिसूत्र 289
54 स्थानागटीका, पत्र 168
55 मूलाचार 561
56 नियमसार, तात्पर्यवृत्ति – 1
57 पचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति 1,4,18
58 भक्तामर स्तोत्र – श्लोकसख्या 2, 36, 37, 48
59 तत्रैव – 16
60 तत्रैव – 24
61 तत्रैव – 23
62 तत्रैव – 14
63 तत्रैव – 26
64 भागवतपुराण – 1-8-43
65 भक्तामर स्तोत्र – 25
66 सस्कृत धातुकोष – पृ० 66
67 भक्तामर स्तोत्र – 25

68. तत्रैव – 25
69 संस्कृत धातुकोष – पृ० 12
70 हलायुध कोष – पृ० 374
71 वाचस्पत्यम् खण्ड 5 पृ०
72 निरुक्त (यास्क) 3-12
73 अमरकोश 2-6-3-5
74 दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि पृ० 176
75 उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० 35
76 आवश्यक चूर्णि–2 पृ० 254
77. सूत्रकृताग चूर्णि–1 पृ० 21
78 नियमसार तात्पर्यवृत्ति – 73
79 भाव पाहुड टीका 43 156 12
80 भागवतपुराण 1 8 10
81 तत्रैव 10 31 2
82 भक्तामर स्तोत्र–23
83 ऋग्वेद 10 90 2
84 भक्तामर स्तोत्र–26
85. गीता 13 27
86 भक्तामर स्तोत्र – 25
87 गीता – 8 1, 10.15, 11 3. 15 18. 19
88 भक्तामर स्तोत्र – 25
89 तत्रैव – 24
90 सस्कृत धातु कोष पृ० 83
91 उणादिसूत्र (पाणिनी) 595

92 हलायुधकोश – पृ० 485
93 तत्रैव – पृ० 584
94 सर्वार्थसिद्धि 7-16-354-4
95 भक्तामर स्तोत्र – 25
96 श्रीमद्भागवतकी स्तुतियों [illegible]
पृ० 13
97 स्थानांग टीका, पत्र 33
98 तत्रैव पत्र 118
99 विशेषावश्यक भाष्य 1048
100 धवला 13/5 582/346/8
101 भक्तामर स्तोत्र – 10
102 भागवतपुराण 1 8 36
103 तत्रैव 10 2 30.31
104 भक्तामर स्तोत्र – 10
105 तत्रैव 17, 23
106 सस्कृत धातुकोष पृ० 89
107 उणादिसूत्र – 572
108 हलायुधकोश पृ० 89
109 वाचस्पत्यम् षष्ठभाग, पृ० 4757
110 गीता – 256
111 समयसार 311 पर आत्मख्याति टीका
112 चारित्रसार पृ० 46
113 दशवैकालिक अगस्त्यसिह चूर्णि पृ० 233
114 आचारागचूर्णि पृ० 180

68. तत्रैव – 25
69 संस्कृत धातुकोष – पृ० 12
70 हलायुध कोष – पृ० 374
71 वाचस्पत्यम् खण्ड 5 पृ०
72 निरुक्त (यास्क) 3-12
73 अमरकोश 2-6-3-5
74. दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि पृ० 176
75 उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० 35
76 आवश्यक चूर्णि–2 पृ० 254
77 सूत्रकृताग चूर्णि–1 पृ० 21
78 नियमसार तात्पर्यवृत्ति – 73
79 भाव पाहुड टीका 43. 156 12
80 भागवतपुराण 1 8 10
81 तत्रैव 10 31 2
82 भक्तामर स्तोत्र–23
83 ऋग्वेद 10 90 2
84 भक्तामर स्तोत्र–26
85 गीता 13 27
86 भक्तामर स्तोत्र – 25
87 गीता – 8 1, 10 15, 11 3, 15 18. 19
88 भक्तामर स्तोत्र – 25
89 तत्रैव – 24
90 सस्कृत धातु कोष पृ० 83
91 उणादिसूत्र (पाणिनी) 595

92 हलायुधकोश – पृ० 485
93 तत्रैव – पृ० 584
94 सर्वार्थसिद्धि 7-16-354-4
95 भक्तामर स्तोत्र – 25
96 श्रीमद्भागवतकी स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन, भूमिका पृ० 13
97. स्थानांग टीका, पत्र 33
98 तत्रैव पत्र 118
99 विशेषावश्यक भाष्य 1048
100 धवला 13/5 582/346/8
101 भक्तामर स्तोत्र – 10
102 भागवतपुराण 1 8 36
103. तत्रैव 10 2 30,31
104 भक्तामर स्तोत्र – 10
105 तत्रैव 17, 23
106 संस्कृत धातुकोष पृ० 89
107 उणादिसूत्र – 572
108 हलायुधकोश पृ० 89
109 वाचस्पत्यम् षष्ठभाग, पृ० 4757
110 गीता – 256
111 समयसार 311 पर आत्मख्याति टीका
112 चारित्रसार पृ० 46
113 दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ० 233
114. आचारागचूर्णि पृ० 180

115. सूत्रकृतांग टीका 2 पत्र 41
116 अभिधानचिन्तामणि कोश पृ० 14
117 भृक्तामर स्तोत्र – 5] 27
118 तत्रैव – 3
119 तत्रैव – 24, 34
120 तत्रैव – 24
121 तत्रैव – 34
122 संस्कृत धातुकोष पृ० 85
123 सस्कृत–हिन्दी कोश (आप्टेकृत) पृ० 945
124 सर्वदर्शन सग्रह (माधवाचार्य) पृ० 333 (भारतीय दर्शन परिभाषा कोश पृ० 231)
125 भारतीय दर्शन परिभाषा कोश – पृ० 231
126 तत्रैव – पृ० 231
127 कठोपनिषद् 2 2
128 मुण्डकोपनिषद् 1.1.6
129 कैवल्योपनिषद् 6
130 गीता 10 12

****

भक्तामर-स्तोत्र अलंकार-सौन्दर्य

1. सामान्य

स्तोता की चित्तवृतियां जब स्तव्य के चरण कमलो मे अविच्छिन्न रूप से स्थित हो जाती है, सदा सर्वदा के लिए अवस्थित हो जाती है, तब मन, चित्त और आत्मा तीनो समाहित होकर एकीकृत हो जाते है, उसी समय भक्त हृदय से, स्तोता के हृदय से भावधारा इतनी सशक्त और तरंगायित होकर पूर्ण चैतन्य रूप धारण कर शब्दो में अभिव्यक्ति होती है। वे शब्द सामान्य जागतिक शब्दो की अपेक्षा अधिक आकर्षक मनोरजक, हृदयवेधक तथा प्रभावोत्पादक होते है।

उनमे रमणीयता, वल्गुता, आह्लादकता आदिगुण सहजतया परिपूर्ण होते है। रस, गुण, अलकार, छन्द, रीति, पद्धति, वक्रोक्ति आदि काव्य के सभी उपादान उनमे विद्यमान तो होते ही है ललित और उदात्त का अनन्त सौन्दर्य भी साधित होता है।

2. अलंकार का स्वरूप

अल उपपद पूर्वक तनादिगणीय कृञ् करणे[1] धातु से भाव मे तथा करण में घञ् प्रत्यय करने पर अलकार शब्द निष्पन्न होता है।[2] अलं शब्द के अनेक अर्थ होते है -- अलम् भूषणपर्य्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्[3] । यहॉ 'अलम्' का प्रयोग भूषण के अर्थ मे हुआ है। अलकार का अर्थ है -- अलकरोतीति अलंकार अलक्रियते अनेन इति अलंकार । जो शोभा स्वरूप हो वह अलकार है अथवा जिसके द्वारा शोभा सम्बर्धित हो, उस शोभाधायक साधनतत्त्व को अलकार कहते है। जो अलंकृत या विभूषित करे वह अलकार है। जैसे लोक मे कटक कुंडल आदि नित्य यौवना कामिनी

के सौन्दर्य को संबर्धित करते है उसी प्रकार अलकार शब्दार्थ साहित्यभूत काव्य के शोभाधायक तत्त्व है, अर्थात् शोभा को सबर्धित करते है। अलंकृत करने वाले, सौन्दर्य बढाने वाले तत्त्व अलकार कहे जाते है। आचार्य राजशेखर ने अलकारो की महनीयता को स्वीकार करते हुए इसे वेद का सातवां अग माना है – उपकारकत्वात् अलकार., सप्तममगमिति यायावरीय[4]। काव्यादर्शकारने काव्य के शोभाकारक धर्म को अलकार कहा है –

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान्प्रचक्षते। आनन्दवर्धन के अनुसार अलकार काव्य का विभूषक धर्म है।[6] आचार्य मम्मट ने लिखा है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।[7]

अर्थात् अलकार शब्दार्थ का शोभावर्धन करते हुए मुख्यत रस का उपकारक सिद्ध होता है। यह शब्दार्थ का अस्थिर या अनित्य धर्म है और इसका स्थान कटक, कुडल प्रभृति आभूषणो की भाति अग को विभूषित करना है। पडित राज जगन्नाथ के शब्दो मे अलकार काव्य की आत्मा व्यग्य का रमणीयता प्रयोजक धर्म है--

काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजकाः अलंकाराः।[8]

इस प्रकार काव्य के शोभाधायक, रूचिसंवर्धक, आह्लादविबोधक तत्त्व को अलकार कहा जाता है।

3. भक्तामरस्तोत्र और अलंकार विनियोग

आचार्यमानतुङ्ग और उनका भक्तामर-स्तोत्र भक्त ससार मे प्रसिद्ध है। उसमें आचार्य मानतुङ्ग ने वर्णनीय की स्पष्टाभिव्यक्ति तथा कथ्य को प्रभविष्णु बनाने के लिए अनके उत्कृष्ट अलंकारो का प्रयोग किया है।

3.1. अनुप्रास -- शब्दालकारो मे अनुप्रास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समान ध्वनियो, अक्षरो या वर्णो की पुनरावृत्ति अनुप्रास है। अनुप्रास मे रसानुकूल वर्णो अथवा ध्वनियो की अनुवृत्ति होती है। वर्णो का ऐसा विनियोग जिससे श्रुतिमधुरता, नाद-सौन्दर्य की सृष्टि हो, रसमयता, चित्रात्मकता प्रभावशीलता तथा सोन्दर्यचारूता की सवृद्धि हो वहा अनुप्रास होता है। आचार्य मम्मट ने लिखा है -- वर्णसाम्यमनुप्रास·। प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रास· अर्थात् वर्णो की समानता अनुप्रास है। स्वरो का वैसादृश्य होने पर भी व्यजन–सादृश्य काम्य है। वर्णो की समानता का रसानुगत होना अनिवार्य है।

अनुप्रास के अनेक भेद स्वीकृत है -- छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यनुप्रास आदि। भक्तामरस्तोत्र मे ये सब प्राप्त होते है।

3.1.1 **छेकानुप्रास** -- जब अनेक वर्णो की स्वरूप एव क्रम से एक बार आवृत्ति हो उसे छेकानुप्रास कहते है। छेक अर्थात् विदग्धजनो को प्रिय है इसलिए छेकानुप्रास है -- छेकविदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेष छेकानुप्रास[10]। मम्मट के अनुसार अनेक वर्णो की एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास कहा जाता है – सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व ।[11]

भक्तामर स्तोत्र मे अनेक ऐसे प्रसंग उपलब्ध है जिनमे छेकानुप्रास की मनोरम-मधुरिमा विद्यमान है।

'गम्यो न जातु मरुतां चलिता चलानाम्'[12]

इस पद मे त, च, ल इन तीन माधुर्यव्यंजक की व्यवधान रहित आवृत्ति हुई है। इस शब्द-।व।

नाद-सौन्दर्य के साथ प्रभु का सामर्थ्य भी गम्य होता है। वे प्रभु वैसे है कि पर्वतों को भी हिला देने वाले पवनो के द्वारा भी गम्य नहीं है। यहा महाप्रभु जिनेश्वर की स्थैर्य, प्रसाद और मर्यादा अभिव्यंजित है। उदात्त, विभावना और विशेषोक्ति आदि अलकारों का भी मनोरम लास्य विद्यमान है। भगवान् की विभूता अथवा विभूति का वर्णन होने से उदात्त, भगवान् के स्थैर्य रूप कार्य है, परन्तु स्थिरता का कारण हवाओ का अभाव नहीं है। कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति विभावना है, तथा हवाएं कारण हैं, परन्तु हवाओं से प्रभु चंचल नहीं होते है, गम्य नहीं हैं। कारण के होने पर भी कार्य का अभाव होने से विशेषोक्ति अलंकार भी है।

अन्य उदाहरण — 'कल्पान्तकालमरुताचलिताचलेन'[13] (क्या प्रलयकालीन हवाएं मन्द्रराद्रि को हिला सकती है)। इस पद के द्वारा भगवान् की महनीयता का उद्घाटन किया गया है। त, च, ल इन वर्णो की एक बार आवृत्ति हुई है।

स्त्रीणां शतानिशतशो जनयन्ति पुत्रान्[14]
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।

(सैकडो पुत्रों को जन्म देती है, लेकिन दूसरी माता तुम्हारे सदृश पुत्र का जन्म नहीं दे सकती है) इस उदाहरण में श, त, की एक बार आवृत्ति हुई है।

नित्योदयं दलित मोह-महान्धकारम्।[15]

(प्रभु! आपका मुख नित्य उदित तथा मोह रूप महान्धकार का विनाशक है) इस उदाहरण में म और ह की अव्यवधान आवृत्ति हुई है -- 'मोहमहा'।

बुद्धस्त्वमेव विबुद्धार्चित बुद्धि बोधात्[16]

(हे विबुद्धार्चित! ज्ञान के प्राकट्य से तुम ही बुद्ध हो) इस उदाहरण मे ब और ध की व्यवधान रहित एवं व्यवधानयुक्त एक-एक आवृत्ति अनेको बार हुई है।

3.1.2. **वृत्त्यनुप्रास** -- वृत्तिगत एक वर्ण या अनेक-वर्ण समुदाय की अनेक बार आवृत्ति हो उसे वृत्त्यनुप्रास कहते है। विभिन्न रसो के अनुकूल वर्ण-रचना वृत्त्यनुप्रास मे काम्य होता है। संयुक्त या असंयुक्त अनेक व्यंजनो की अनेक बार व्यवधानरहित या व्यवधानसहित आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं। एकस्याप्यसकृत्पर.[17] अर्थात् एक या अनेक वर्णो की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास है। भक्तामर के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है –

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।[18]

इस श्लोक में म की अनेक बार आवृत्ति हुई है। अन्य उदाहरण–

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ
तुभ्यं नमः क्षितितलामल भूषणाय।
तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय।

प्रस्तुत उदाहरण मे त, म, य, न की अनेक बार आवृत्ति हुई है।

3.1.3 **श्रुत्यनुप्रास** – जब कठ, तालु स्थान से उच्चरित वर्णो की

हो उसे श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार–

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालु-रदादिके।[20]
सादृश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।।

अर्थात् तालु, कंठ आदि में से किसी एक स्थान पर उच्चरित वर्णो की समता को श्रुत्यनुप्रास कहते है। एक स्थान से उच्चरित वर्णो के प्रयोग से श्रुति सुखदता का सबर्धन होता है और उसे ही श्रुत्यनुप्रास कहते हैं–

एष सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रास' भक्तामर स्तोत्र में श्रुत्यनुप्रास का नाद सौन्दर्य अनेक स्थलों पर विद्यमान है–

स्तोतुं समुद्यत-मतिः विगतत्रपोहम्।[22]

इस 'उदाहरण मे स, त आदि एक स्थान से उच्चरित वर्णो की अनुवृति हुई है। स, त एक स्थानीय वर्ण है -- लृतुलसाना दन्ता.[23]

उच्चौरशोक तरू संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत् किरणमस्त तमोवितानम्,
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति।।

यहां पर 'उच्चैरशोक' मे च, श, नितान्तम् मे न् त् 'स्पष्टोल्लसत्' मे स, ल, त् आदि एकस्थानीय वर्णो के संयोजन से श्रुत्यनुप्रास है।

छत्रत्रयं तव विभाति शशांक कान्त-[24]
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर प्रतापम्।

मुक्ताफलं प्रकरजाल विवृद्धशोभं
प्रख्यातपयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।

इस श्लोक मे त, न, स, थ आदि वर्णो की आवृत्ति हुई है।

मुक्ताफल प्रकरजालविवृद्धशोभम् मे उ, म, फ, प आदि उपध्यमानीय वर्णो की आवृत्ति हुई है।

3.1.4. **अन्त्यनुप्रास** -- प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति होने पर अन्त्यनुप्रास होता है। जो पद या पाद के अत मे पडता है। पद या पाद के अंत मे पडने के कारण ही अन्त्यनुप्रास कहते हैं। कविराज विश्वनाथ प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यजन की आवृत्ति मे अन्त्यनुप्रास मानते है। यथावस्थ से अभिप्राय है कि इसमे यथासभव अनुस्वार, विसर्ग, स्वर आदि पूर्ववत् ही रहते हैं--

व्यंजनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु[25]।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादंत्यनुप्रास एव तत्।।

भक्तामर स्तोत्र श्लोक–26 मे अन्त्यनुप्रास का सुन्दर विनियोग देखा जा सकता है। द्वितीय से चतुर्थ तक प्रत्येकं पाद के अन्त मे आय पद की आवृत्ति हुई है।

3.2. **यमक** -- इस अलकार मे तुल्याकार शब्दो की क्रमश आवृत्ति होती है। तुल्याकार शब्द मे एक सार्थक एक निरर्थक भी हो सकता है। लेकिन य। सार्थक है तो भिन्नार्थक होना आवश्यक

मम्मट ने अर्थ होने पर भी भिन्न अर्थवाले वर्णसमुदाय की उसी क्रम से पुनः श्रुति या आवृत्ति को यमक माना है:–

अर्थेसत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।[26]

भक्तामर-स्तोत्र मे इसका अत्यल्प प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः।[27]

इस उदाहरण मे शिव-शिव में यमक है। ये दोनो सार्थक होते हुए भिन्नार्थक है। प्रथम शिव का अर्थ प्रशस्त है और दूसरा शिव मोक्ष का वाचक है।

टीकाकारो ने इसका अर्थ किया है – शिवपदस्य-मोक्षस्थानस्य, शिवः – प्रशस्तो निरूपद्रवोवा।[28]

3.3. उपमा -- यह सादृश्यमूलक अलंकार है। किसी प्रकार की समानता के कारण जब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के समान कहा जाय तो उपमालंकार होता है। इसमे दो पदार्थो (उपमान, उपमेय) मे भिन्नता रहते हुए भी साम्य स्थापन होता है। आचार्य मम्मट ने लिखा है – साधर्म्यमुपमा भेदे[29] अर्थात् किसी समान–धर्म के आधार पर उपमेय और उपमान मे साधर्म्य कथन उपमा है।

भक्तामर-स्तोत्र मे अनेक सुन्दर उपमाओ का प्रयोग हुआ है। कहीं पर मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान तो कहीं अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण, जिसमे उपमान का संचयन प्रकृति-जगत् से हुआ है --

त्वत्संस्तवेन भवसंतति सन्निवद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर भाजाम्।

आक्रान्तलोकमलिनीमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकाराम्।।

(हे प्रभो! तुम्हारे संस्तव (स्तुति) से प्राणियों के जन्म-जन्मातर से सचित पाप-ताप क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं, जेसे भौरे के समान काली रात्रि के सर्वत्र व्याप्त अंधेरे को सूर्य की किरणे शीघ्र ही भेद डालती है, समाप्त कर देती है।)

यहा पर सस्तव की उपमा सूर्य की किरणों से तथा जन्मान्तर से सचित पाप की उपमा कालीरात्री के अंधकार से दी गई है। जैसे अधेरी रात्री मे आंखे अपना व्यापार नहीं कर पाती, आवरण के कारण देख नहीं पाती उसी प्रकार पाप के कारण आत्मा प्रकाशित नहीं होती है, आच्छादित एवं आवृत रहती है।

सूर्योदय होते ही अन्धकार का विनाश होता है वैसे ही भगवत्स्तवन से सम्पूर्ण पापो का विध्वस हो जाता है।

उच्चैरशोक तरू संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतोनितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत् किरणमस्त तमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति।।[31]

अर्थात् ऊच्चे अशोकवृक्ष के नीचे स्थित ऊपर की ओर जाने वाली किरणों से युक्त तुम्हारा निर्मल रूप अंधकार से रहित, मेघ के निकट अवस्थित एव स्पष्ट रूप से उल्लसित किरणो से युक्त रवि के बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है।

इस उदाहरण मे भगवान् के रूप की अमलता एवं अकल्मषता को समुद्घाटित करने के लिए स्पष्ट किरणो

मम्मट ने अर्थ होने पर भी भिन्न अर्थवाले वर्णसमुदाय की उसी क्रम से पुनः श्रुति या आवृत्ति को यमक माना है:—

अर्थेसत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।[26]

भक्तामर-स्तोत्र में इसका अत्यल्प प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः।[27]

इस उदाहरण मे शिव-शिव में यमक है। ये दोनो सार्थक होते हुए भिन्नार्थक है। प्रथम शिव का अर्थ प्रशस्त है और दूसरा शिव मोक्ष का वाचक है।

टीकाकारो ने इसका अर्थ किया है — शिवपदस्य-मोक्षस्थानस्य, शिव. — प्रशस्तो निरूपद्रवोवा।[28]

3.3. **उपमा** -- यह सादृश्यमूलक अलंकार है। किसी प्रकार की समानता के कारण जब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के समान कहा जाय तो उपमालंकार होता है। इसमे दो पदार्थो (उपमान, उपमेय) मे भिन्नता रहते हुए भी साम्य स्थापन होता है। आचार्य मम्मट ने लिखा है — साधर्म्यमुपमा भेदे[29] अर्थात् किसी समान—धर्म के आधार पर उपमेय और उपमान मे साधर्म्य कथन उपमा है।

भक्तामर-स्तोत्र मे अनेक सुन्दर उपमाओ का प्रयोग हुआ है। कहीं पर मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान तो कहीं अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण, जिसमे उपमान का सचयन प्रकृति-जगत् से हुआ हे --

त्वत्संस्तवेन भवसंतति सन्निवद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर भाजाम्।

यहां नामनागदमनी मे रूपक है। नाम मे नागदमनी का आरोप किया गया है।

त्वत्पाद पंकजवनाश्रयिणो लभन्ते।[46]

यहां पर पाद पंकज मे रूपक है। पाद पर पंकज का आरोप किया गया है। पादपंकज का पैतालीसवे श्लोक मे भी प्रयोग हुआ है।

भक्तामर स्तोत्र का प्रारम्भ और अन्त रूपक के साथ ही होता है--

स्तोत्रस्त्रजं तव जिनेन्द्र! गुणैर्निबद्धां
भक्त्यामया रूचिरवर्ण विचित्रपुष्पाम्
धत्ते जनाय इह कंठगतामजस्त्रं
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मी।।[47]

इसमे स्तोत्र मे माला का आरोप है। रुचिरवर्ण ही जिसमे विविधरग के पुष्प है। यहां स्तोत्र के महत्त्व का उद्घाटन हुआ है।

3.5. **दृष्टान्त** -- लोक और शास्त्र दोनो स्थलो पर दृष्टान्त की महनीयता प्रथित है। वर्णनीय के स्पष्ट उद्घाटन के लिए बिम्बप्रतिबिम्बात्मक दृष्टान्त अलकार का प्रयोग होता है। दृष्टान्त का अर्थ है -- 'उदाहरण'। इसमे किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिए तत्समान अन्य बात कही जाती है। इसमे दो वाक्य होते है -- एक उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य तथा दोनो के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु उनमे बिम्बप्रतिबिम्ब होता है या प्रकार की समानता होती है। इसमे सादृश्यवाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। प्रथम

भक्तामर-स्तोत्र में अनेक स्थलो पर रूपक का सुन्दर विनियोग किया गया है। प्रथम श्लोक से ही रूपक की रमणीयता की छटा सहृदय ससार को प्रभावित करने लगती है:—

भक्तामर-प्रणत मौलिमणिप्रभाणा
मुद्योतकं दलित-पाप तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।[40]

इस उदाहरण मे पाप-तम एव भवजले मे रूपक अलकार है, क्योकि दोनों मे उपमेय पर उपमान का अभेदारोप है। पाप उपमेय है तम उपमान। दोनो मे अभेदत्व होकर पापतम — बना। पापतम-पाप रूप अन्धकार। भवजले -- ससार जल मे। भव मे जल का आरोप होने से रूपक है।

नित्योदयं दलित मोह महान्धकारम्[41]

इसमे मोहमहान्धकार मे रूपक है। रूपक अलकार का एक सुन्दर निदर्शन द्रष्टव्य है--

तुभ्यं नमो जिन! भवोदधिशोषणाय।[43]

यहा 'भवोदधि' पद मे रूपक है। भव-ससार मे उदधि (उपमान) समुद्र का आरोप किया गया है।

त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्[44]

यहां पर नाम कीर्तन मे जल का आरोप किया गया है। नाम-कीर्तन, भक्ति का महत्त्व समुद्घाटित करने के लिए रूपक पद का प्रयोग किया गया है।

त्वन्नामनागदमनी हदि यस्य पुंसः[45]

भक्तामर-स्तोत्र में अनेक स्थलो पर रूपक का सुन्दर विनियोग किया गया है। प्रथम श्लोक से ही रूपक की रमणीयता की छटा सहृदय ससार को प्रभावित करने लगती है:–

भक्तामर-प्रणत मौलिमणिप्रभाणा
मुद्योतकं दलित-पाप तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।[40]

इस उदाहरण मे पाप-तम एव भवजले मे रूपक अलकार है, क्योकि दोनो मे उपमेय पर उपमान का अभेदारोप है। पाप उपमेय है तम उपमान। दोनो मे अभेदत्व होकर पापतम – बना। पापतम-पाप रूप अन्धकार। भवजले -- संसार जल मे। भव मे जल का आरोप होने से रूपक है।

नित्योदयं दलित मोह महान्धकारम्[41]

इसमे मोहमहान्धकार मे रूपक है। रूपक अलकार का एक सुन्दर निदर्शन द्रष्टव्य है--

तुभ्यं नमो जिन! भवोदधिशोषणाय।[43]

यहा 'भवोदधि' पद मे रूपक है। भव-ससार मे उदधि (उपमान) समुद्र का आरोप किया गया है।

त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्[44]

यहा पर नाम कीर्तन मे जल का आरोप किया गया है। नाम-कीर्तन, भक्ति का महत्त्व समुद्घाटित करने के लिए रूपक पद का प्रयोग किया गया है।

त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः[45]

यहा नामनागदमनी मे रूपक है। नाम में नागदमनी का आरोप किया गया है।

त्वत्पाद पंकजवनाश्रयिणो लभन्ते।[46]

यहा पर पाद पकज मे रूपक है। पाद पर पंकज का आरोप किया गया है। पादपंकज का पैतालीसवे श्लोक मे भी प्रयोग हुआ है।

भक्तामर स्तोत्र का प्रारम्भ और अन्त रूपक के साथ ही होता है--

स्तोत्रस्त्रजं तव जिनेन्द्र! गुणैर्निबद्धां
भक्त्यामया रूचिरवर्ण विचित्रपुष्पाम्
धत्ते जनाय इह कंठगतामजस्त्रं
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मी।।[47]

इसमे स्तोत्र मे माला का आरोप है। रुचिरवर्ण ही जिसमे विविधरग के पुष्प है। यहा स्तोत्र के महत्त्व का उद्घाटन हुआ है।

3.5. दृष्टान्त -- लोक और शास्त्र दोनो स्थलो पर दृष्टान्त की महनीयता प्रथित है। वर्णनीय के स्पष्ट उद्घाटन के लिए बिम्बप्रतिबिम्बात्मक दृष्टान्त अलकार का प्रयोग होता है। दृष्टान्त का अर्थ है -- 'उदाहरण'। इसमे किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिए तत्समान अन्य बात कही जाती है। इसमे दो वाक्य होते है -- एक उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य तथा दोनो के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु उनमें बिम्बप्रतिबिम्ब होता है या प्रकार की समानता होती है। इसमे सादृश्यवाचक शब्दो का प्रयोग नहीं होता है। प्रथम

वाक्य की पुष्टि के लिए द्वितीय वाक्य की अवतारणा की जाती है। आचार्य मम्मट के अनुसार दृष्टान्त का लक्षण इस प्रकार है -- **दृन्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।**[48]

अर्थात् उपमेयवाक्य, उपमानवाक्य एवं साधरण धर्म मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो तो उसे दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।

भक्तामर-स्तोत्र मे अनेक स्थालो पर दृष्टान्त का साभिप्राय प्रयोग परिलक्षित होता है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं:--

सर्वप्रथम भक्तामरकार ने अपनी ह्रस्वता का, अल्पता का उद्घाटन दृष्टान्त के माध्यम से ही किया है--

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ![49]
स्तोतुं समुद्यतमतिः विगतस्त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितामिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।

विबुधार्चित पादपीठ! प्रभो! मै लज्जाहीन बुद्धि के बिना ही स्तवना करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। क्योकि पानी मे तैरते हुए चन्द्र बिम्ब को बालक के अतिरिक्त और कौन पकडने की इच्छा करता है?

इस उदाहरण मे बुद्धि विहीन और बालक, स्तोतु और ग्रहितुम् तथा प्रभु की स्तवना और चन्द्रबिम्ब मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है। बालको द्वारा चन्द्रबिम्च का ग्रहण लोक प्रसिद्ध है। यह लौकिक दृष्टान्त है।

भक्त लाख बाधाओ के होने पर भी अपने प्रभु से अलग नहीं होता, स्वय शक्तिहीन होते हुए भी अनन्यरति

के कारण, अनन्यथा सिद्ध प्रेम के कारण वह भक्ति के मार्ग पर चल पडता है' इस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए मृग (हरिण) और सिह का दृष्टान्त दिया गया है--

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश
कर्तु स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं[50]
नाभ्येति कि निजशिशोः परिपाल नार्थम्।

मै वही असहाय और असमर्थ शक्तिरहित होते हुए भी हे मुनीश! आपकी भक्तिवशात् (प्रीतिवशात्) (आपकी) स्तुति करने मे प्रवृत्त हो रहा हू। हरिण प्रीति के कारण अपनी शक्ति पर विचार किए बिना -- असमर्थ होते हुए अपने बच्चे के रक्षण के लिए सिह पर आक्रमण तथा 'भक्तिवशात्' और 'प्रीत्या' मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। यह लोकमूलक दृष्टान्त है। सामाजिक सम्बन्धो का उद्घाटन भी हो रहा है। जिस प्रकार पिता या माता और पुत्र मे सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार भक्त और भगवान् मे भी है। दृष्टान्त अलकार के अन्य उदाहरण श्लोक सख्या 13, 15, 20, 22 द्रष्टव्य है।

3.6. उत्प्रेक्षा -- प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की सभावना को उत्प्रेक्षालकार कहते है। उत्प्रेक्षा का अर्थ है उत्कृष्ट पदार्थ की संभावना या बलपूर्वक देखना। उत्प्रेक्षा मे उपमान या अप्रस्तुत को प्रकृष्टरूप से देखने का वर्णन होता है --

उत्कृष्टा प्रकृष्टस्योपमानस्येक्षाज्ञानमुत्प्रेक्षा[51] आचार्य मम्मट के अनुसार प्रकृत की अप्रकृत के साथ एकरूपता या तादात्मय की सभावना को उत्प्रेक्षा कहते है -- सभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्[52] उत्प्रेक्षा

के काफी निकट होता है। अन्तर यह है कि उपमा मे उपमेय उपमान मे समानता स्थापित की जाती है। लेकिन उत्प्रेक्षा मे सम्भावना की कल्पना की जाती है।

भक्तामर स्तोत्र मे अनेक स्थलो पर इसका सुन्दर विनियोजन किया गया है। सिहासन पर अवस्थित भगवान् के शरीर मे उदयाचल शिखर पर स्थित सूर्य की सभावना की गई है–

सिंहासने मणिमयूखशिखा विचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।[53]
बिम्बं वियद् विलसदंशुलतावितानं
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्त्ररश्मेः।।

मणि किरणो की शिखाओ में विचित्र सिहासन पर तुम्हारा कचन जैसा शरीर सुशोभित हो रहा है, मानो ऊचे उदयाचल के शिखर पर आकाश मे चमकती हुई किरणलता समूह से युक्त सूर्य का बिम्ब हो।

यहा पर भगवान् के शरीर मे सूर्य बिम्ब की तथा सिहासन मे उदयाचल की सभावना की गई है।

विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तम्[54]
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्।

विविध प्रकार की स्फुलिगे विखेरता हुआ मानो विश्व को निगल जाने की इच्छावाला दावानल भी आपके नामकीर्तन रूपी जल से पूर्णतया शात हो जाता है। यहा पर 'जिघत्सुमिव' मे उत्प्रेक्षा है।

3.7. परिकर -- स्तुति साहित्य का अत्यन्त प्रसिद्ध अलकार है – परिकर। इसमे वर्णनीय के परिपोषण के लिए,

शोभा सवर्धन के लिए साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग किया जाता है। परिकर का अर्थ उपकरण, उत्कर्षक या शोभाकारक पदार्थ। इसमे साभिप्राय विशेषण शोभाकारक पदार्थ लेकर विशेष्य का उपस्कारक होते है। आचार्य मम्मट के अनुसार -- **विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः**[55] अर्थात् सार्थक एव साभिप्राय विशेषणो के द्वारा वर्णनीय का परिपोषण किया जाता है, वह परिकर अलकार है।

लगभग सभी स्तोत्रो मे इस अलकार का प्रयोग होता है। स्तुतियो मे प्रभु नाम का कीर्तन एव गुणकत्थन ही प्रधान होता है। स्तुति मे भक्त अपने स्वामी के गुणनिष्पन्न नामों का स्तोत्रस्रग् समर्पित करता है। इसलिए स्तोत्रो मे परिकर का सौन्दर्य विद्यमान रहता है। भक्तामर स्तोत्र मे इसका प्रभूत उपयोग हुआ है –

त्वानामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।[56]

इस उदाहरण मे चार साभिप्राय विशेषणो – परम पुमासम्, आदित्यवर्णम्, अमलम्, तमस परस्तात् का प्रयोग किया गया है, जो भगवान् की श्रेष्ठता, प्रकाशरूपता, कालुष्यरहितता एव ज्ञानमय स्वरूप का प्रकाशन करते है, समुद्घाटन करते है। एक अन्य उत्कृष्ट उदाहरण–

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं[57]
ज्ञान स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः।।

इस उदाहरण मे अव्ययम्, विभुम्, अचिन्त्य, असख्यम् आद्यम्, ब्रह्माणम्, ईश्वरम् अनन्तम् अनंगकेतुम् अनगकेतुम्, योगीश्वरम् विदितयोगम्, अनेकम्, एकम्, ज्ञानस्वरूपम्, अमलम् आदि पन्द्रह साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग हुआ है।

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैः गुणैः भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।।[58]

इसमे भुवनभूषण और भूतनाथ इन दो साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग हुआ है, जो उपास्य के गुणो का समुद्घाटन करते है। प्रभु अपनी गुणवत्ता के कारण ससार के भूषण है तथा करुणा, दया और ऐश्वर्य के कारण भूतनाथ है। भक्तामर स्तोत्र के अन्य श्लोको-25, 26 मे भी परिकर का अनिन्द्य सौन्दर्य विद्यमान है।

आचार्य सिद्धसेन कृत कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे परिकर का सौन्दर्य विद्यमान है। कल्याणमन्दिर के लगभग सभी श्लोको मे परिकर अलकार की विद्यमानता तो है ही श्लोक सख्या 39, 40, 41, 42 मे इसकी अनिन्द्य आह्लादकता के साथ-साथ आकर्षण समर्थ शोभाचारुता भी गम्य है। प्रभु शरण मे प्रपन्न भक्त अपनी कल्याण की कामना करता हुआ कैसे प्रभु विशेषणो का प्रयोग करता है – कल्याणमन्दिर का अधोविन्यतस्त श्लोक भक्तसंसार के लिए मननीय है, ध्येतव्य है–

त्वं नाथ! दुःखिजनवत्सल! हे शरण्य!
कारुण्यपुण्यवसते! वशिनां वरेण्य!।[59]
भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि।।

इस श्लोक मे नाथ, दु खिजनवत्सल, शरण्य, कारूण्यवसते, वशिना वरेण्य, महेश आदि साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग किया गया है। ये विशेषण प्रभु की महनीयता को समुद्घाटित तो करते ही है, भक्त और भगवान् के बीच सम्बन्ध को भी समुपस्थापित करते है। एक अन्य श्लोक जिसमें भक्त अपना हृदय खोलकर, अपने पाप–ताप को सामने रखकर प्रभु से प्रार्थना कर रहा है–

देवेन्द्रवन्द्य! विदिताखिलवस्तुसार!
संसारतारक! विभो! भुवनाधिनाथ!
त्रायस्व देव! करुणाहृद! मां पुनीहि[60]
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः।।

हे देवेन्द्रो के द्वारा वन्द्य! सम्पूर्ण वस्तुओ के ज्ञाता, संसारतारक! विभो! भुवनाधिनाथ, करुणा के सरोवर! भयकारक व्यसन रूप महासागर मे दु खी होते हुए मेरी रक्षा करो, मुझे पवित्र करो। कितने सुन्दर-सुन्दर विशेषणो का प्रयोग किया गया है, जिसके श्रवणमात्र से ही हृदय की कलुषता अमलता की अमर विभूति बन जाती है, विवशता एवं दीनता सामर्थ्य की सभूति बनकर प्रकट होती है।

3.8. व्यतिरेक -- जहा गुणोत्कर्ष, सातिशय महनीयता, उदात्तता एवं विभूति आदि का वर्णन वाक्ष्य होता है वहां व्यतिरेक का महत्त्व अधिक होता है। उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणोत्कर्ष को व्यतिरेक अलकार कहते है। व्यतिरेक का अर्थ है विशेष प्रकार का अतिरेक या आधिक्य --

व्यतिरेको विशेषेणातिरेकः आधिक्यम्[61]

भामह ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणोत्कर्ष वर्णन को व्यतिरेक कहा है। उपमेय का विशेष निदर्शन ही व्यतिरेक है।[62] आचार्य मम्मट की दृष्टि मे व्यतिरेक की परिभाषा निम्नलिखित है -- **उपमानाद्यस्य व्यतिरेक. स एव सः।**[63]

अर्थात् उपमान की अपेक्षा उपमेय मे गुणाधिक्य का वर्णन व्यतिरेक अलकार है।

भक्तामर-स्तोत्र मे अनेक स्थलों पर प्रभु की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए इस अलंकार का प्रयोग किया गया है।

1 प्रभु ऋषभदेव की अलौकिकता का प्रतिपादन करने के लिए उन्हे अपरदीप कहा गया है--

दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाश![64]

ससार के जितने भी दीपक है वे धूमवान्, तैल-वर्तियुक्त एव अल्प क्षेत्र को प्रकाशित करते है लेकिन प्रभु ऐसे दीप है कि समस्त ससार को एकसाथ प्रकाशित करते है।

2 सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र! लोके।[65]

अर्थात् हे मुनीन्द्र! आपकी महिमा सूर्य से भी अधिक है। यहा पर मुनीन्द्र की महिमा को सूर्य की महिमा से श्रेष्ठ बताया गया है।

3 मुख-सौन्दर्य की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए दो श्लोको मे व्यतिरेक का विनियोग हुआ है--

(क) विद्योतयज्जगदपूर्व शशाक विम्वम्।।[66]

(ख) कि शर्वरीषु शशिनाऽहि विवस्वता वा

युष्मन्मुखेंदुदलितेषु तमस्सु नाथ!।।[67]

4 ऋषभदेव की माता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन
स्त्रीना शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्। नान्या सुत त्वदुपम जननी प्रसूता।।[68]

5 हरिहरादि देवो से ऋषभ की श्रेष्ठता का निरूपण

दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
कि वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरित नाथ! भवान्तरेऽपि।।[69]

हरिहरादि देवो को हमने देखा और देखने से संतोष की प्राप्ति हुई लेकिन हे नाथ! तुम्हे देखने से अब दूसरा कोई भी देव जन्म-जन्मान्तरो मे भी आकर्षित नही कर सकता है।

3.9. उदात्त -- किसी वस्तु की महनीयता, उत्कर्ष, सम्पन्नता आदि के निरूपण मे उदात्त अलकार का प्रयोग श्रेष्ठ समझा जाता है। जहा वस्तु की समृद्धि का वर्णन हो वहा उदात्त अलकार होता है। उदात्त का अर्थ है उत्कर्ष के साथ किसी का ग्रहण। उत् उत्कर्षेण आदीयते गृह्यते स्म इत्युदात्तम्। यह ऐश्वर्य एव औदार्य का भी बोधक है–

उदात्त शब्दस्य औदार्य ऐश्वर्य चार्थः।[70]

आचार्य मम्मट के अनुसार वस्तु की समृद्धि का वर्णन तथा वर्ण्यवस्तु के अग के रूप मे महापुरूषो के चरित्र का उपस्थापन उदात्त अलकार है।

उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्।
उपलक्षणमंगभावः अर्थादुपलक्षणीयऽर्थे।।[71]

जयदेव ने लिखा है --

उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाध्यं चान्योपलक्षणम्।[72]

तात्पर्य है कि जहा वस्तु की समृद्धि के साथ महच्चरित्र का उपस्थापन हो उसे उदात्त अलकार कहते है। भक्तामर-स्तोत्र मे इस अलकार का प्रभूत उपयोग हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है--

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैक ललामभूत।[73]
तावन्तएव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति।।

हे त्रिभुवन के एक मात्र सुन्दर जिन शान्त-राग वाले और कान्तिमान् परमाणुओ से आपकी रचना हुई है, वे परमाणु इस धरातल पर उतने ही थे। यही कारण है कि इस पृथ्वी पर तुम्हारे जैसा कोई रूप नही है। भगवान् का चरित्र त्रिभुवन का एक मात्र विभूषण है। प्रभु के गुणो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए कवि कहता है--

सम्पूर्ण मण्डल शशांक कला-कलाप[74]
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयंति।
ये संश्रिता स्त्रिजगदीश्वर! नाथमेकं
करस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।

अर्थात् सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल की कला समूह के तुल्य कान्तिमान् आपके उज्जवल गुण तीनो लोको का उल्लघन करते है। हे त्रिजगदीश्वर! जिन्होने आप जेसे

एक ही स्वामी का आश्रय ले लिया उन्हे यथेच्छ भ्रमण करने से कौन रोक सकता है। इस उदाहरण से प्रभुचरित्र की महनीयता एव गुण-समृद्धि का चित्रण होने से उदान्त अलकार है।

3.10. **काव्यलिङ्ग** -- जब वाक्यार्थ या पदार्थ किसी कथन का कारण हो तो काव्यलिग अलकार होता है। आचार्य मम्मट ने बताया है कि जब वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप मे कारण कथन किया जाए उसे काव्यलिङ्ग कहते है--

काव्यलिङ्गम् हेतोर्वाक्यपदार्थता[75]

भक्तामर-स्तोत्र मे अनेक स्थलो पर इस अलकार का प्रयोग मिलता है।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश![76]

यहा स्तव मे प्रवृत्ति का कारण भक्ति है।

कर्तु स्तवं विगत शक्तिरपि प्रवृत:' इस वाक्य मे स्तवना रूप कार्य का पूर्व वाक्य मे 'भक्तिवशात्' कारण का अन्वेषण है इसलिए काव्यलिग अलकार है।

भगवान् के रूप के समान अन्य कोई रूप नही है' इस कार्य के कारण का अनुसन्धान पूर्व वाक्य 'तावन्त एव खलु अप्यणव पृथिव्या' मे निहित है। भगवान् का रूप इसलिए श्रेष्ठ है कि उनका जिन परमाणुओ से निर्माण हुआ वे उतने ही थे (उनके शरीर निर्माण मात्र ही थे)।

3.11. **अर्थापत्ति** -- इस अलंकार में एक कार्य की सिद्धि या एक कार्य करते हुए अन्य अशक्य कार्य की स्वत सिद्धि का वर्णन किया जाता है। इसमे दण्डापूपिका

न्याय एव कैमुतिकन्याय के आधार पर अन्य कार्य की सिद्धि का उल्लेख होता है।

मालपुए से युक्त दड को सब चुहा निगल गया तब मालपुए को निगल जाना स्वत सिद्ध है। कैमुतिक न्याय का अर्थ है। जिसने कठिन या दुष्कर कार्य को सिद्ध कर लिया वह सरल कार्य क्या नही कर सकता? कविराज विश्वनाथ ने दडापूपिकान्याय से अर्थापत्ति की सिद्धि मानी है--

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।[78]

अर्थात् दण्डापूपिकान्याय से जहा अर्थ का ग्रहण हो, वर्णनीय का निरूपण हो उसे अर्थापति अलकार कहते है। अप्पयदीक्षित ने कैमुत्यन्याय से अर्थापत्ति मानी है--

कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते।[79]

भक्तामर स्तोत्र मे अनेक स्थलो पर इसकी प्राप्ति होती है:-

पीत्वा पयः शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः[80]
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्।।

अर्थात् चन्द्रमा के समान उज्ज्वल दुग्ध सिन्धु से जल का पान कर खारे समुद्र के जल को कौन पीना चाहता है? यहा पर भगवान् के रूप की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् भगवान् ससार मे सबसे अधिक सुन्दर है क्योकि अनिमेष-विलोकनीय भगवान् को देखकर मनुष्य की आखे अन्यत्र सन्तुष्ट नहीं होती है। इसी सदर्भ में दृष्टान्त गर्भित अर्थापति का अवतरण

धाताऽसि धीर! शिवमार्गविधेः विधानाद्
व्यक्तंत्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि।।

इसमे विभिन्न कारणों की दृष्टि मे भगवान् को भिन्न–भिन्न रूप मे वर्णित किया गया है। कैवल्य बोध से सम्भूषित होने के कारण बुद्ध, जगत् के कल्याण साधक होने से शकर, शिव मार्ग–मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करने से धाता और गुणाधिक्यता के कारण पुरुषोत्तम आदि रूप मे एक ही भगवान् ऋषभ का वर्णन किया गया है इसलिए उल्लेख अलंकार है।

इस प्रकार भक्तामर–स्तोत्र मे औचित्यानुरूप श्रेष्ठ अलकारो का विन्यास हुआ है। इसमे अलकारो का न केवल सहज–प्रयोग है बल्कि भक्त के भक्तिपूत हृदय से सभूत होने के कारण वे निसर्ग रमणीय एवं वल्गु–लावण्य से मण्डित भी है।

****

संदर्भ-सूची

1 संस्कृत धातु कोष, पृ० 23

2 वाचस्पत्यम्, खण्ड-1, पृ० 388

3 अमरकोश 3 4 28 13

4 काव्यमीमासा - पृ० 7

5 काव्यादर्श 2 1

6 ध्वन्यालोक 2 6

7 काव्यप्रकाश 8/67

8 रसगगाधर

9 काव्यप्रकाश 9 79

10 साहित्यदर्पण 10/3 पर वृत्ति

11. काव्यप्रकाश 9/106

12 भक्तामरस्तोत्र 16

13 तत्रैव 15

14 तत्रैव 22

15 तत्रैव 18

16 तत्रैव 25

17 काव्यप्रकाश 9 79

18 भक्तामर स्तोत्र 23

19 तत्रैव 26

20 साहित्यदर्पण 10 8

21. तत्रैव 10 6 की वृत्ति

22 भक्तामर स्तोत्र – 3

23 लघु सिद्धान्त कौमुदी, सज्ञाप्रकरण, पृ०14 (टीकाकार – राजेन्द्र चौधरी रामनारायण लाल वेणी प्रसाद इलाहवाद 1969)

24 भक्तामर स्तोत्र 28

25 साहित्यदर्पण 107

26 काव्यप्रकाश 83

27 भक्तामर स्तोत्र 23

28 तत्रैव गुणाकार सूरि की टीका।

29 काव्यप्रकाश 10/87

30 भक्तामर स्तोत्र 7

31 तत्रैव 28

32 तत्रैव 29

33 तत्रैव 29 पर मेघविजकृत टीका

34 तत्रैव 30

35 तत्रैव 30 पर मेघविजय की टीका

36 तत्रैव 40

37 तत्रैव 42

38 तत्रैव 47

39 काव्यप्रकाश 10/93

40 भक्तामर स्तोत्र-1

41 भक्तामर स्तोत्र-18

42 भक्तामर स्तोत्र-25

43 भक्तामर स्तोत्र-26

67 तत्रैव-19

68 तत्रैव-22

69 तत्रैव-21

70 भारतीय साहित्यशास्त्र कोश पृ० 274 पर उधृत

71 काव्यप्रकाश-10 115

72 चन्द्रालोक-5 115

73 भक्ताामर स्तोत्र 12

74 तत्रैव 14

75 काव्य प्रकाश-10 114

76 भक्तामर स्तोत्र-5

77 तत्रैव-12

78 साहित्यदर्पण-10/83

79 कुवलयानन्द-120

80 भक्तामर स्तोत्र-11

81 तत्रैव-14

82 साहित्यदर्पण-10.37

83 भक्तामर स्तोत्र-25

****

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अकलंक स्तोत्र -- भट्टाकलक, हिन्दी टीका सहित जबलपुर, वि स. 1963।

अग्नि पुराण -- महर्षिव्यास, विद्यासागर, कलकत्ता, सन् 1882 ।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य

अनुयोगद्वार मलधारीय टीका -- श्री केसर भाई ज्ञानमन्दिर, पाटण, सन् 1939 ई०।

अभिधान चिन्तामणि -- आचार्य हेमचन्द्र, भावनगर, वीर सवत् 2441।

अभिधान राजेन्द्र कोश -- रतलाम 1913-1934 ई०।

अमरकोश -- अग्रेजी अनुवाद -- कॉलब्रुक्स, नाग पब्लिशर्स 1990 ई०।

अमरकोश, माहेश्वरी टीका युक्त, निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1940 ई०।

अर्थशास्त्र, कौटिल्य

अलकार रत्नाकर -- शोभाकर मिश्र, पूना ओरिएन्टल बुक ऐजन्सी 1942 ई०।

अलकार सर्वस्व -- रुय्यक

अश्रुवीणा -- मुनिनथमल (आचार्य महाप्रज्ञ), आदर्शसाहित्यसंघ चुरु

आचारांग सूत्र (आयारो) अग्रेजी अनुवाद, मुनि श्री महेन्द्रकुमार, टुडे एण्ड टुमारो प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981 ई०।

आप्त परीक्षा, विद्यानन्दि, पडित दरबारी लाल कोठिया सम्पादित, वीरसेवा मन्दिर सरसावा, 1949 ई०।

आवश्यक चूर्णि (1-2) -- श्री ऋषभदेव जी केशरीमल, श्वेताम्बर सस्था, रतलाम सन् 1928, 1929 ई०।

ईशादि अष्टोत्तरशतोपनिषद् -- चौखम्बा 'विद्याभवन वाराणसी-1991 ई०।

उत्तराध्ययन चूर्णि -- देव चदलाल भाई, जैन पुस्तकोद्धार, सन् 1933 ई०।

उज्जवलनीलमणि -- रूपगोस्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1932 ई०।

उपनिषद् वाक्यकोश (तीन खण्ड) जैकव

उपनिषत्सग्रह -- मोतीलाल वनारसीदास प्रथम सस्करण 1970, ई०।

उपसर्गहर स्तोत्र

एकार्थककोश -- युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती 1984 ई०।

एकीभाव स्तोत्र -- वादिराजसूरिकृत, पचस्तोत्र सग्रह सूरत।

औचित्य विमर्श -- राममूर्ति त्रिपाठी, भारतीभण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, सवत् 2021 ।

कठोपनिषद् -- शाकर भाष्य सहित, गीताप्रेस गोरखपुर।

कल्याण-भक्ति विशेषाक -- चिमनलाल गोस्वामी सम्पादित, गीताप्रेस गोरखपुर।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र, आचार्य सिद्धसेन।

काव्यप्रकाश, मम्मट -- बालबोधिनी टीका सहित, भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिरम् पुणे 1983 ई०।

काव्यमीमासा राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1965 ई०।

काव्यानुशासन हेमचन्द्र निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1934 ई०।

काव्यालकार भामह चौखम्बा सस्कृत सीरिज वनारस 1928 ई०।

काव्यालकार रूद्रट वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, 1965 ई०।

क्रियाकोश -- किशनसिह, जैन पुस्तक भवन हरीसनरोड, कलकत्ता

कुवलयानन्द अप्पयदीक्षित निर्णयसागर प्रेस वम्वई 1937 ई०।

कैवल्योपनिषद्

गीता -- शांकर भाष्य सहित, गीताप्रेस गोरखपुर।

चन्द्रालोक - जयदेव टीकाकार -- सुबोधचन्द्रपन्त मोतीलालवनारसीदास, दिल्ली, 1966 ।

चारित्रसार

चाणक्य नीतिदर्पण

चेइयवदणमहाभास -- श्री शान्तिसूरि सकलित, प० बेचरदास सम्पादित भावनगर, वि० स० 1977।

जस तिहुअण थोत्त -- जैन प्रभाकर प्रिटिग प्रेस, रतलाम।

जिनसहस्रनाम, प० —— आशाधर, स० -- प०– हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि.स 2070।

जीतकल्पभाष्य -- बबलचद केशवलाल मोदी, अहमदाबाद, स० 1944।

जैनग्रंथ और ग्रथकार -- फतेह चद बेलानी, बनारस विश्वविद्यालय 1950 ई०।

जैनधर्म, पं० कैलाशचन्द जैन भारतीय दि. जैन सघ चौरासी मथुरा, 1955 ई०।

जैन साहित्य और इतिहास -- प० नाथूराम प्रेमी, साहित्यमाला बम्बई 1956 ई०।

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, जुगलकिशोर मुख्तार, वीरशासन संघ कलकत्ता, वी नि स 2449 ।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, डा० गुलाब चन्द्र चोधरी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसस्थान, 1973 ई०।

जैनाचार्य, मूलचन्द्रवत्सल -- जैन पुस्तकालय, सूरत।

जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश (1-4 भाग) -- जिनेन्द्रवर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-1990 ई०।

जैन स्तोत्रसदोह (1-2 भाग) -- मुनिचतुरविजय सम्पादित, साराभाई मणिलाल नबाब प्रथमभाग वि स 1989, द्वि भाग, वि सं 1992।

जैन स्तोत्र समुच्चय -- सम्पादक – मुनि चतुरविजय, निर्णयसागर प्रेस, वि स. 1984।

ज्ञानार्णव -- आचार्यशुभचन्द्र, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई तत्त्वानुशासन, नागसूरिकृत।

तत्त्वानुशासन, नागसूरिकृत

तत्त्वार्थ राजवार्तिक, भट्टअकलक भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागरसूरि विरचित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि. स 2010।

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक -- विद्यानन्द स्वामी, मनोहरलाल न्यायशास्त्री सम्पादित, गांधी नाथारग जैन ग्रथमाला, बम्बई 1918 ई०।

तत्त्वार्थ सूत्र, प० सुखलालसंघवी के विवेचन सहित, हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी, सन् 1952 ई०।

तत्त्वार्थ सूत्रम् -- सम्पादक – जे० एल० जैन, बैरिष्टर चपतरायजैन ट्रस्ट दिल्ली 1956 ई०।

तर्कभाषा, केशवमिश्र -- काशीसंस्कृतग्रथमाला, वाराणसी 1963 ई०।

तिलोयपण्णत्ति (भाग 1-2) -- श्री यतिवृषभाचार्य, डॉ० उपाध्ये एव डॉ० जैन सम्पादित, जैन संस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर 1943 ई०।

दशभक्ति -- सस्कृत टीका एव मराठी अनुवाद सहित -- तात्या गोपाल शेटे, शोलापुर सन् 1921 ई०।

दशभक्त्यादि सग्रह -- अखिलविश्व जैनमिशन गुजरातप्रान्तीय केन्द्र सलाल, गुजरात।

दशवैकालिक अगस्त्यसिहचूर्णि प्राकृत ग्रन्थपरिषद् वाराणसी सन् 1963 ई०।

प्रभावक चरित्र -- प्रभाचन्द्राचार्य भारतीय विद्याभवन बम्बई, सन् 1940 ई०।

प्राकृत -- हिन्दीकोश, डॉ० के० आर० चन्द्र, प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड अहमदाबाद 1987 ई०।

बृहद्देवता

बृहद्द्रव्यसंग्रह, श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका सहित श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्रामचन्द्र आश्रम, आगस, 1989 ई०।

बृहदारण्येकोपनिषद, गीताप्रेस गोरखपुर

भक्तामर कल्याणमन्दिर एण्ड नमिऊण (विविधटीका सहित)-- सम्पादक, प्रो० हीरालाल रसिकदास कापडिया, देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत 1932 ई०।

भक्तामर रहस्य -- मत्रमनीषी शातावधानी प० धीरजलाल शाह, जैन प्रकाशन साहित्य मदिर, मुबई--1971 ई०।

भक्तामर-सदोह -- डॉ० हरिशकर पाण्डेय, प्रज्ञा प्रकाशन जयपुर 1996 ई०।

भक्तामर-स्तोत्र -- हिन्दी अनुवाद सहित श्री जैनोदय पुस्तक-प्रकाशक समिति रतलाम, विक्रमाब्द 1994 ई०।

भक्तामर-स्तोत्रम् -- सूरि, मेघविजयसूरि और कनककुशलगणि की सस्कृतवृत्ति सहित

भक्तिगुच्छक -- प० बलभद्र सम्पादित अहिसा मन्दिर, दिल्ली, वीर निर्वाण स 2483।

भक्ति रत्नावली (अग्रजी अनुवाद) विष्णुपूरी, श्री रामकृष्णमठ, मद्रास--4, प्रथम सस्करण 1979 ई०।

भक्तिरसामृत सिन्धु -- डॉ० नगेन्द्र सम्पादित दिल्ली विश्वविद्यालय 1963 ई०।

भगवती आराधना -- शिवार्यकोटि, दिगम्बरजैन ग्रंथमाला, हीराबाग बम्बई।

भगवद्भक्ति रसायन -- मधुसूदन सरस्वती।

भारतीयदर्शन -- प० बलदेव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, वि स 2000 ।

भारतीय दर्शन परिभाषा कोश -- डॉ० दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली 1993 ई०।

भारतीय साहित्य शास्त्र कोश -- डॉ० राजवश सहाय हीरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका -- डॉ० फतेहसिह, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली 1967 ई०।

भावपाहुड

भावप्रकाशन, शारदातनय गायकवाड आरियन्टल सीरिज बाडौदा 1930 ई०।

महाभारत (सम्पूर्ण) गीता प्रेस (गोरखपुर)

मीमासादर्शन (जैमिनीसूत्र) आनन्द्राश्रम पूना 1929 ई०।

मुण्डकोपनिषद्, शाकर भाष्य सहित, गीता प्रेस गोरखपुर

मूलाचार, वट्टकेरि, प० – पन्नालाल सम्पादित माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रथमाला, बम्बई 1920 ई०।

मैत्रेय्युपनिषद्

योग की प्रथम किरण, साध्वी [illegible] 1994 ई०।

युक्त्यनुशासन, आचार्यसमन्त [illegible] वीर सेवा मन्दिर, [illegible]

योगसूत्र – पतजलि, [illegible] आफिस, [illegible]

रघुवश -- कालिदास, सम्पादक–नारायणराम आचार्य, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी 1987 ई०।

रसगंगाधर, पं० जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

रससिद्धान्त -- स्वरूप और विश्लेषण -- आनन्दप्रकाशदीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1960 ई०।

लघु सिद्धान्त कौमुदी -- वरदराजाचार्य टीकाकार -- राजेन्द्र चौधरी, रामनारायण लाल वेणी प्रसाद इलाहाबाद 1969 ई०।

वाक्यपदीय, भतृहरि पुण्यराज की टीका सहित चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी 1990 ई०।

वाल्मीकि रामायण -- गीताप्रेस, गोरखपुर।

विवेकचूडामणि, शकराचार्य, थ्यूसोफिकल पब्लिशिग हाऊस आडयार, मद्रास 1932 ई०।

वेदान्तसार -- श्री सदानन्द प्रणीत, व्याख्याकार -- श्री बदरीनाथ शुक्ल मोतीलाल बनारसीदास 1979 ई०।

वेदान्तसार, सदानन्द प्रणीत भावबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, वाराणसी 1968 ई०।

वैजयन्तीकोश

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, श्री रामनारायण शास्त्रीकृत भाषानुसार सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, कलकत्ता।

शान्तिभक्ति, आचार्यपूज्यपाद, दशभक्ति, शोलापुर, सन् 1921 ई०।

शिवमहिम्न स्तोत्र -- हिन्दी अंग्रेजी भाषान्तर सहित, भाषान्तरकार लक्ष्मीनारायण ओकार लाल जोषी, चौखम्भा औरियण्टालिया वाराणसी 1986 ई०।

शिवमहिम्नस्तोत्र, मधुसूदनी टीका सहित, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी 1964 ई०।

श्रीमज्जया चार्य विरचित चौबीसी एक अनुशीलन -- डॉ० हरिशकर पाण्डेय, तुलसी प्रज्ञा Vol XX, पूर्णाक 90, जैनविश्वभारतीसस्थान, लाडनू 1994, पृ० 95-106 ।

श्रीमद्भगवद गीता -- शाकर भाष्य सहित गीताप्रेस गौरखपुर ।

श्रीमद्भागवत पुराण -- हिन्दी अनुवाद सहित (दो भाग) गीताप्रेस गोरखपुर, षठसस्करण, वि स 2027 ई०।

श्रीमद्भागवत की स्तुतियो का समीक्षात्मक अध्ययन, डा० हरिशकर पाण्डेय जैन विश्वभारतीसस्थान, लाडनूं 1994 ई०।

श्वेताश्वतरोपनिषद, शाकरभाष्यसहित गीताप्रेस गोरखपुर, बारहवा संस्करण, वि स 2050 ई०।

सस्कृत -- अग्रेजीकोश - आप्टे, नाग पब्लिशर्स, 1987 ई०।

सस्कृत -- अग्रेजीकोश, मोनीयर विलियम्स, मोतीलालवनारसीदास, दिल्ली-1986 ई०।

सस्कृत कविदर्शन -- डॉ० भोलाशकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 ई०।

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पी वी. काणे, मोतीलालवनारसीदास, दिल्ली, 1966 ई०।

सस्कृत -- धातुकोष – युधिष्ठिर मीमासक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ, हरियाणा, वि स 2046।

सस्कृत वाड्मयकोश (दो खण्ड) -- श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद, 1988 ई०।

सस्कृत -- हिन्दी कोश, आप्टेकृत, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली, 1981 ई०।

समयसार, कुन्दकुन्दा चार्य, सत्साहित्य प्रकाशन, दिगम्बर जैन तीर्थ जयपुर 1986 ई०।

समाधिशतक

सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, हिन्दी व्याख्या - उमाशंकर शर्मा चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी 1964, ई०।

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद विरचित भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली।

साख्यकारिका -- ईश्वरकृष्ण, अनुवाद - ब्रजमोहन चतुर्वेदी नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, 1969 ई०।

साहित्यदर्पण - विश्वनाथ विमला हिन्दी व्याख्या सहित मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970 ई०।

सिद्धान्त कौमुदी, तत्त्वबोधिनीसहित, सम्पादक -- वासुदेवशर्मा मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नई दिल्ली, 1985 ई०।

सूत्रकृताग चूर्णि (प्रथम श्रुतस्कन्ध) प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी वाराणसी, सन् 1975 ई०।

स्तुतिविद्या, स्वामी समन्तभद्र, वीरसेवा मन्दिर सरसावा, वि स 2007।

स्तोत्र सदोह (सम्पूर्ण) साराभाई मणिलाल नवाब, नागजीभूधर का पोल, अहमदावाद 1932 ई०।

स्थानाग सूत्र टीका -- सेठ माणेकलाल चूनीलाल अमहदावाद सन् 1937 ई०।

स्वतन्त्र कलाशास्त्र -- कान्तिचन्द्रपाण्डेय चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, 1967 ई०।

स्वयभू स्तोत्र -- समन्तभद्र, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, वि स 2008।

हलायुध कोश

हिन्दी कृष्ण काव्य मे रूप सौन्दर्य, डा० पुरूषोत्तम दास अग्रवाल।

हिन्दी -- सस्कृत कोश -- डॉ० रामस्वरूप रसिकेश, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1993 ई०।

****